ज्ञानमण्डल-ग्रन्थमालाका दूसरा ग्रन्थ

वैज्ञानिक अद्वैतवाद

लेखक

रामदास गौड़, एम. ए.

काशी

ज्ञानमण्डल कार्य्यालय

१९७७.

प्रकाशक—

ज्ञानमण्डल कार्यालय

काशी

[१ सं० २०००—१९७७]

[मूल्य १॥=)]

[सजिल्द १॥।=)]

रामको समर्पित

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम् ।"

वैज्ञानिक अद्वैतवाद

अनुवचन

सत्यके अनन्त अनादि अपरिमित और अखण्ड सागरमें प्राच्य और पाश्चात्य विचार-तरङ्गोंके बीच कहीं गर्भ और कहीं शिखर था। परन्तु संघर्ष होते ही दोनों एक हो गये, और

"तुम और नहीं, हम और नहीं,
हमको न समझ अपनेसे जुदा,
तुम और नहीं, हम और नहीं

यह शब्द सारे समुद्रमें गूँज उठा।

सत्यसे अधिक पुरानी कोई बात हो नहीं सकती, क्योंकि अनादि है। उससे अधिक नयी बात, नयी ईजाद भी होनी असम्भव है, क्योंकि अनन्त है। अनन्त आकाशके चित्र पुरानेसे पुराने हैं परन्तु उनपर नित नया रंग चढ़ता रहता है। पुरानेसे पुराने चित्र नयेसे नये रंगरूप बदलते रहते हैं। प्रकारमें विकारका सातत्य है, विकार भी ऐसा है जो निर्विकार है, अनन्त है। अतः वैज्ञानिक अद्वैतवादमें नये पुरानेका कोई भेद नहीं है। आविष्कारका दावा नहीं, क्योंकि असम्भव है। अमृत वही है जिसे सागर मथकर देवों और असुरों-

ने निकाला था, पुराने घड़ोंमें भरा था। पात्र नया है, कलई नयी है। इसीलिए दोनों पक्षोंको धन्यवाद है। धन्यवाद है, उनके परिश्रममात्रके लिए, क्योंकि सुधारस-पानका आनन्द अकथ है, अनिर्वचनीय है। उस आनन्दमें आत्म और परका लोप हो जाता है, फिर कौन किसे सराहे, कौन किसका कृतज्ञ हो। ॐ शम् ॐ

संक्षिप्त विषय-सूची

विस्तृत विषय-सूची

पहला प्रकरण

देशकी कल्पना

दूसरा प्रकरण

कालकी कल्पना

तीसरा प्रकरण

जगतकी सृष्टि और लय

चौथा प्रकरण

वस्तुकी सत्ता

पाँचवाँ प्रकरण

आत्म और अनात्म

छठा प्रकरण

अनात्मकी एकतापर आधिभौतिक विचार

सातवाँ प्रकरण

व्यावहारिक वेदान्त

आठवाँ प्रकरण

उपासना

नवाँ प्रकरण

उपासना सूक्त

श्रीगणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा काशीके
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेसमें, मुद्रित हुआ।
६—२१

वैज्ञानिक अद्वैतवाद

पहला प्रकरण

देशकी कल्पना

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्त चिन्मात्र मूर्तये,
स्वानुभूत्येक मानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

देश किस इन्द्रियका अनुभव है?—रूप और शब्दसे देशका अनुभव नहीं होता—स्पर्श रस गंधसे सम्बन्ध नहीं—देशकी कल्पना छठी इन्द्रिय मनतका अनुभव है—देशका अनुभव सापेक्ष है—दो सीमाएं भी हैं—दिशाकी भी यही दशा है—देशका परिमाण, शून्यता और अनन्तता।

कल आधी रातको एकाएक आंख खुल गयी और पड़ोससे बहुत सी स्त्रियोंके रोनेकी आवाज आयी। कुछ देर बाद पता चला कि कोई आदमी मर गया है और उसकी विधवा और बच्चे उसके वियोगदुःखमें तड़प रहे हैं। रात अँधेरी थी, तारे चमक रहे थे। विचार हुआ कि उठकर जाऊं और शोकग्रस्तोंको सान्त्वना दूं। आवाज दक्खिनकी ओरसे आती थी, इससे मैंने अनुमान कर लिया कि किसके यहां यह दुर्घटना हुई है। हाथ बढ़ाकर दियासलाईके लिए टटोला, पर हाथमें आया चश्मेका घर। दियासलाई न मिलनेसे दिया न जला सका। फिर पड़े पड़े सोचने लगा।

मैंने शब्द सुनकर यह कैसे जान लिया कि आवाज़ दक्खिनसे आ रही है और किसीके मर जानेपर रोनाधोना हो रहा है? आंख खुलते ही मुझे यह कैसे पता लगा कि आधी रात हो गयी है? शब्द कहांसे आता है, यह प्रश्न देशका है और इस समय आधी रात बीत गयी है, इससे कालका निर्देश होता है। मैंने पहलेसे यह अनुभव कर रखा है कि उत्तर दक्खिन पूरब पच्छिम आदि दिशाओंसे जब शब्द आता है अपनी ऊंचाई नीचाई आदि गुणोंसे दिशाका कुछ न कुछ पता देता ही है। परन्तु यह बात भी सबको मालूम है कि शब्दसे दिशाके अनुमानमें हम कभी कभी धोखा भी खा जाते हैं। यही दशा समयके अनुमानमें भी कभी कभी होती है। हमने कैसे समझा कि आधी रात है? खुली छतपर पड़े पड़े ज्योंही आंख खुली, देखा कि वृश्चिक राशि दक्खिनके मध्याकाशमें है और आजकल ऐसा आधी रातके समय होता है, इसलिए समयका अनुमान भी कर लिया।

इन बातोंसे स्पष्ट है कि देश और काल दोनोंके विचारमें हमने अपने पहलेके अनुभवसे काम लिया है और यह अनुभव इन्द्रियोंके द्वारा ही हुआ है। अब प्रश्न यह है कि देश और कालका अनुभव कौन सी इन्द्रियोंके द्वारा हुआ है?

पहले हम देशके विषयमें विचार करेंगे। साधारणतः लोग समझते हैं कि हम आंखसे देखकर दूरीका अनुमान करते हैं। शास्त्रीय शब्दोंमें यही बात यों कही जा सकती है कि देश चक्षुरिन्द्रियका विषय है अर्थात् देश भी रूपके अन्तर्गत है। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि हम आंखोंसे दूरीको देख कर मालूम कर लेते हैं। परन्तु यह नितान्त भ्रम है। आंखोंसे दूरीका अनुभव त्रिकालमें नहीं हो सकता। भौतिक विज्ञान

वाले इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि हम आंखोंसे कैसे देख सकते हैं। प्रकाशकी किरणें वस्तुपर पड़कर आंखोंकी तरफ लौटती हैं और आँखके परदेपर अपना प्रभाव डालती हैं। हमने बागमें एक बड़ा सुन्दर गुलाबका फूल देखा। यह एक बहुत साधारण क्रिया है, पर साथ ही इसके यह भी समझ लेना चाहिए कि हमने वस्तुतः क्या देखा। सूरजकी अनेक रङ्गोंकी किरणें फूलपर पड़ीं। गुलाबीको छोड़ और सब तरहकी किरणें इस फूलमें समा गयीं। केवल गुलाबी किरणें कहीं घनी और कहीं फीकी होकर हमारी आँखोंकी ओर लौटीं और परदेपर आकर हमारी आँखकी नाड़ियोंको गुलाबी रङ्गका अनुभव कराया। हमने जो कुछ देखा वह सूरजकी किरणोंका समूह था। इसीको हमने गुलाबके फूलका रूप समझा। जिसे हम गुलाबका फूल कहते हैं सच पूछिये तो हमने उसे जाना नहीं। निदान जो कुछ हम देखते हैं वह प्रकाशकी किरणोंका विविध तारतम्यसे दर्शनमात्र है। फोटोसे सब लोग परिचित हैं। फोटोग्राफी आंखकी क्रियाकी नकल है। जिस जिस तरह कमरेके परदेपर सामनेका दृश्य चित्रित हो जाता है उसी तरह आँखके परदेपर भी सामनेका दृश्य चित्रित हो जाता है। दूरी कोई ऐसी वस्तु नहीं जो चित्रित हो सके। हां, दूरी-के कारण किरणोंमें तारतम्य अवश्य पड़ता है और चित्रके खिंच जानेपर प्रकाशके ही भेदसे हम दूरीकी कल्पना कर लेते हैं। इस तरह यह स्पष्ट हुआ कि आंखोंसे हम दूरीका पता नहीं लगा सकते। प्रत्युत् विचारद्वारा हम दूरीकी कल्पना करते हैं। यह प्रायः सभी बच्चेवालोंने देखा होगा कि बच्चा जब पहलेपहल खाना सीखता है तो चमचेको

अपने मुँहतक ले जानेमें जरूर चूक जाता है। कभी कभी सर और कभी गाल और कभी कानतक चमचेको लेजाकर धीरे धीरे चमचे और अपने मुंहकी दूरीका पता लगाता है है और अभ्यास हो जानेपर फिर उससे भूल नहीं होती। लकड़ी चीरनेवाला भी पहलेपहल जब काठके कुन्देपर कुल्हाड़ेको गिराता है अपने निशानेका अन्दाज़ा कर लेता है। पर ठीकठीक निशानेपर कुल्हाड़ेका पड़ना बिना अभ्यासके सम्भव नहीं है। हाथ पैरके जितने काम हैं, गतिसे सम्बन्ध रखते हैं और संसारमें बड़ेसे बड़ा और छोटेसे छोटा काम स्थानपरिवर्तन वा गतिका ही प्रकारान्तर है। यन्त्रशास्त्रमें इसीलिये कर्मको देश और शक्तिका गुणनफल बताया है। देशकी ठीक अटकल न होनेसे ही अच्छे अच्छोंका निशाना चूक जाता है और होशियारसे होशियार कारीगर देशकी ही ठीक कल्पनासे कार्य्यमें अपनेको कुशल सिद्ध कर सकता है।

शब्द सुनकर दूरीका अनुमान होना कानका विषय नहीं है। भौतिकशास्त्र शब्दके विषयमें यह स्पष्ट कर देता है कि वायुमण्डलमें अथवा शरीरसे संलग्न किसी पदार्थमें भी जब स्फुरण होता है, जब कपकपी होती है और इसका प्रभाव कानके परदेपर पड़ता है, तब हमको शब्दका भान होता है। शब्दके भानमें दूरीका भान कभी नहीं होता। पहलेके अनुभवसे हम दूरीका अनुमानमात्र कर लेते हैं। यह बात दूसरी है कि शब्दकी गतिका हिसाब करके हम जान लें कि शब्द कितनी दूरसे आया है। पर यह हिसाबकिताब मन और बुद्धिका विषय है कानका विषय नहीं।

स्पर्श या त्वचासे, स्वादसे या सूंघ करके दूरीका ज्ञान

लेना तो असम्भव है ही—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। निदान शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांचों विषयोंमेंसे किसीमें दूरी अथवा देशका समावेश नहीं हो सकता। यह निश्चय है कि बोझ या दबावका अनुभव जैसे पांच ज्ञानेन्द्रियोंका विषय नहीं है उसी तरह देशका अनुभव भी पांचों ज्ञानेन्द्रियोंसे परे है। सारांश यह है कि देश, काल, और शक्तिका अनुमान हमारी छठी इन्द्रिय मनकेद्वारा होता है*।

देशका अनुभव आपेक्षिक है

हम जब कभी दूरीकी कल्पना करते हैं, किसी परिमित दूरीको ईकाई मानकर दूरीकी मात्रा बनाते हैं। जव, चावल, अंगुल, इञ्च, मिलीमीटरसे लेकर मील, कोस, योजनादि दूरीको इकाइयां हैं। मनुष्यकी कल्पनाकी सीमा उसकी इन्द्रियां हैं। इन्द्रियोंद्वारा ही वह बाहरी संसारको जानता है। इसीलिए अपनी इन्द्रियोंकी पहुँच जहांतक होती है वहांतक उसकी कल्पनाका परिमाण है। दस बीस पचास कोसतक प्रायः मनुष्यकी कल्पना सहजमें पहुँचती है। हम भूगोलमें भले ही पढ़ लें कि पृथ्वीका व्यास चार हजार कोस है, परन्तु सच पूछिये तो चार हजार कोस कितनी दूरी हुई यह हमारी कल्पनामें उसी स्पष्टतासे आजाना, जिस स्पष्टतासे हम दो चार कोसकी दूरीका अनुमान करते है, असम्भव है।

देखकर दूरीका निश्चय करनेमें दृष्टिविपर्य्यय बाधक

---

* ममैवांशो जीव लोके जीव भूत सनातनः।
मन. षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ —भगवद्गीता।

होता है। इस भूतलपर शहरकी गलियोंमें या सड़कोंपर जो रहता आया है, घरोंकी सापेक्ष स्थिति तथा खम्भे और लालटेन आदिकी पारस्परिक दूरीका अनुमान करके मोटी रीतिसे दूरी बता देता है, परन्तु वही देहात, जङ्गल, या मरुभूमिमें जाकर दूरीकी अटकलमें चूक जाता है। देहात जङ्गल या मरुभूमिके रहनेवाले बस्तीमें आकर उसी तरह भ्रममें पड़ जाते हैं। जब पृथ्वीपरकी ही दूरीकी यह दशा है जहां सापेक्ष दूरीके समझनेके लिये अनेक साधन विद्यमान हैं तो आकाशमण्डलके असख्य पिण्डोंकी पारस्परिक दूरीकी कल्पनामें दृष्टिविपर्य्य होना तो कोई बात ही नहीं। आकाशपिण्डोंको देखकर मनुष्य अनादिकालसे भ्रममें रहा है और जबतक गणित और यन्त्रोंकी सहायता उसे नहीं मिली थी तबतक उसने इस विषयमें कितनी भूलें की थी यह बात प्राचीन और आधुनिक ज्यौतिषके इतिहाससे स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रसंगमें यह भी विचारणीय है कि जब कभी हम दूरीकी चर्चा करते हैं हमारे मनमें अवश्य यह भाव होता है कि अमुक दूरी एक विशेष दूरीकी अपेक्षा कितनी है, अथवा विशेष दूरीकी सीमा क्या है। जब हम कहते हैं कि बनारससे बाबतपुर बारह कोस है तो हमारा अभिप्राय इतना ही नहीं होता कि यह दूरी कोस नामकी कल्पित दूरीकी अपेक्षा बारह गुनी है बल्कि उसके साथ साथ यह भी विचार प्रकट है कि इस दूरीकी सीमा एक ओर बनारसकी बस्ती और दूसरी ओर बाबतपुरकी बस्ती है। जब हम यह कहते हैं कि पृथ्वीसे सूर्य्य साढ़ेनव करोड़ मील है तो हमारा तात्पर्य्य पृथ्वीसे सूर्य्यतककी दूरीको सीमाबद्ध कर देनेका भी है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक तारेकी दूरी एक हजार

प्रकाशवर्ष* है तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि उस तारे और पृथ्वीके बीचमें हमारी देशसम्बन्धी कल्पना सीमाबद्ध है। सारांश यह कि बिना सीमाबद्ध किये देशका अनुमान हम कर ही नहीं सकते। अथवा यों समझना चाहिये कि देशकी कल्पनाके साथ उसका आपेक्षिक होना भी अनिवार्य्य है।

देशकी कल्पनाके साथ साथ एक और आपेक्षिकता भी विचारणीय है। दिशाकी कल्पना भी देशकी ही कल्पनाका एक विशेष रूप है। मनुष्यको इन्द्रियोंके द्वारा दिशाकी कल्पना केवल तीन प्रकारकी होती है जिसे हम बहुत साधारण शब्दोंमें लम्बाई चौड़ाई और मोटाई भी कह सकते हैं। ठोस पदार्थोंकी कल्पना इन्हीं तीनोंपर निर्भर है। जो लोग ज्यामिति जानते हैं, उनके लिए इतना ही कह देना काफी होगा कि ठोसके अनुमानमें दिशासूचक तीन ही परिमाणों-की † कल्पना हो सकती है। इसी कल्पनाका विस्तार करनेसे चार छः अथवा दश दिशाओंकी कल्पना की गयी है।

---

* एक सेकंडमें प्रकाश १ लाख ८६ हजार मील चलता है। इस हिसाबसे जिस पिंडसे प्रकाशके आनेमें एक हजार बरस लगते हैं पृथ्वीसे ५७ नील ८५ खरब ३४ अरब ४० करोड़ मील दूर ठहरा।

† गणितमें परिमाण तीन माने जाते हैं, लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई। संसारके समस्त गोचर पदार्थ इन्हीं तीनों परिमाणोंसे सीमित हैं। कुछ गणित विशारदोंने एक चौथे परिमाणकी भी कल्पना की है जिसके गुणधर्म माप आदि सभी गणितके द्वारा निकाले हैं। परन्तु थोड़े ही गणितविशारद इस विषयको कल्पनागत समझते हैं, परन्तु साथ ही उनका अनुमान है कि चौथे परिमाणके ज्ञाताको अदृश्य और व्यापक आदि होनेकी शक्ति भी हो सकेगी। जो हो यह कल्पना भी देशके अन्तर्गत ही है और सीमाबद्ध भी है।

इसका विस्तार अधिक भी हो सकता है। दस दिशाओंकी कल्पनामें पश्चिमादि दिशाएं और वायव्यादि कोण तो एक ही धरातलकी दिशाएँ हैं। केवल ऊपर नीचे यह दो दिशाएँ दूसरे धरातलकी हैं। हम चाहें तो इस धरातलमें भी चार आठ वा अधिक विभाग कर सकते हैं। परन्तु भौतिक कारणोंसे इस विशेष धरातलमें व्यवहारके लिए अधिक विभागोंकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि दिशाका अनुमान धरातलपर ही निर्भर है और धरातलकी कल्पना अनेक विन्दुओंकी आपेक्षिक स्थितिपर निर्भर है। यदि हम मान लें कि आकाशदेशमें किसी ग्रह वा तारेकी नाईं हम भी एक विन्दु हैं तो उत्तर दक्षिण पूरब पश्चिम आदिकी कल्पना हमारे लिये अनिश्चित हो जायगी। सारांश यह कि ऐसी दशामें हम जिधर चाहें उधर जो दिशा चाहें वह दिशा मान ले सकते हैं। थोड़ी देरके लिए मान लीजिये कि पृथ्वीका गोला स्वयम् आकाशमण्डलमें दिशाओंकी कल्पना करना चाहता है। अब बताइये कि उसके लिए ऊपर नीचे या अगलबगल क्या होगा। उसकी दिशाओंकी कल्पना ज्यामितिके अनन्त धरातलोंमें ही हो सकती है।

यह तो स्पष्ट हो गया कि दिशाकी कल्पना भी सापेक्ष है। साथ ही यह भी प्रकट है कि यह आपेक्षिकता कल्पना करने-वालेपर निर्भर है। दिशाकी कल्पनामें भी इस प्रकार सीमाएँ हो गयीं।

जिस पदार्थको हम कल्पनामें लाना चाहते हैं, जिस वस्तुकी अटकल करना हमें इष्ट है, वह पदार्थ वा वस्तु यदि अत्यधिक परिमाणमें हो तो उसका मान वा अटकल करनेके लिए अपने सुभीतेके अनुसार हम नपना बना लिया करते

है—इस बातकी व्याख्या हम ऊपर कर आये हैं। अब यह विचार करना है कि देशका वास्तविक परिमाण क्या है? उसका सम्बन्ध हमारी कल्पनामें आये हुए देशसे कैसा है, निष्पत्ति क्या है, और क्या देशकी वास्तविक सत्ताको बुद्धिमें लाना सम्भव है?

गणितमें शून्यता और अनन्तता यह दोनों कल्पनाएँ प्रसिद्ध हैं। गणितज्ञोंको मालूम है कि शून्यता नितान्त अभावका नाम नहीं है। वस्तुका इतना कम होना कि उसका नापना वा उसका मान व्यवहारतः असम्भव हो शून्यता है। साथ ही वस्तुका इतना अधिक होना कि मान असम्भव हो, अनन्तता है। साधारण अङ्कगणितमें यदि तीनमेंसे तीन घटाया जाय तो शेष शून्य समझा जाता है और यहां नितान्त अभावकी ही कल्पना की जाती है। परन्तु उच्च गणितद्वारा यह सिद्ध है कि व्यवहारतः नितान्त अभाव असम्भव है और शून्य भी एक अति सूक्ष्म मानातीत सत्ता है। इसी प्रकार यह भी सिद्ध है कि अनन्तता अति स्थूल मानातीत सत्ता है। इस प्रकार यह भी समझा जा सकता है कि अत्यन्त छोटा भिन्न जैसे $\frac{३}{७३७५८३८२५७१७०२२}$ जिसके मानकी वास्तविक कल्पना असम्भव है—शून्यके बराबर है—अथवा शून्य ही है। उसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि इस भिन्नका उलटा अर्थात् $\frac{७३७५८३८२५१५३२२२}{३}$ अत्यधिक और प्राय. मानातीत संख्या होनेके कारण अनन्त समझा जा सकता है। हमने जो उदाहरण लिया है उच्च गणितमें उसकी अपेक्षा अत्यन्त अधिक और अत्यन्त कम अङ्क भी व्यक्त किये जाते हैं—इतने कि जिनके सामने हमारे उदाहरणकी अनन्तता शून्यतामें और शून्यता अनन्ततामें परिणत हो जाती है। अतः इस

प्रसङ्गमें यह कह देना अनुचित न होगा कि शून्यता और अनन्तताकी कल्पना भी सापेक्ष है।

देशका प्रसार जैसा कुछ कि हमारी इन्द्रियोंसे व्यक्त होता है अमित, अपरिमित, अखण्ड और मानातीत है। देशके ओर छोरका कहीं पता नहीं है। इन्द्रियोंके द्वारा देशके कितने अंशका हम अनुमान कर सकते हैं यह कहना कठिन है। प्रकाशकी गति एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकण्ड है। आधुनिक ज्यौतिषशास्त्रने पता लगाया है कि ऐसे तारे भी इस देशमें चमक रहे हैं जिनसे हमारी पृथ्वीपर आनेमें प्रकाशको हज़ारों वर्ष लग जाते हैं। प्रकाशकी गतिका हिसाब लगाकर इन तारोंकी दूरी इतनी अधिक सिद्ध होती ह कि कल्पनाके पैर थक जाते हैं और मनका सिर घूमने लगता है। इतनेपर भी बड़े बड़े ज्योतिर्विद नेति नेतिका ही डङ्का बजा रहे हैं और कहते हैं कि यह दूरी जो हमको अत्यधिक और अचिन्त्य जँचती है अनन्त देशकी कल्पनाके सामने शून्य है, और शून्यसे अधिक नहीं है।

जब देशके इतने बडे अंशको जिसे हम ,कल्पनातीत आधिक्यका सर्टिफिकेट देते हैं दूसरी ओरसे लाचार हो हमें शून्य कहना पडता है तो देशविषयक हमारी साधारण कल्पना शून्यातिशून्य वा कल्पनातीत शून्य होगी। अथवा यह कहना भी अनुचित न होगा कि हमारे कल्पित देशका नितान्त अभाव है। अथवा यों कहिये कि देशविषयक हमारी जो कुछ कल्पना है वह वास्तविक सत्ताकी कल्पना नहीं है वरन् सच्ची बात यह मालूम होती है कि किसी वास्तविक सत्ताका हमारी इन्द्रियोंके विशेष नाड़ीजालपर विशेष प्रभाव पड़ता है जिससे हमारी चेतनामें देशकी कल्पनाका

उदय होता है। वस्तुतः जिस कल्पनाको हम देश कहते हैं जिस रूपमें देश हमको व्यक्त होता है वह हमारी चेतनाका आन्तरिक भाव है और उसकी बाह्यसत्ता कुछ भी नहीं। यही कल्पना है जिसमें हमारे मीमांसक एक पक्षके तो देशको अनन्त और दूसरे पक्षके देशका अत्यन्ताभाव मानते हैं॥

दूसरा प्रकरण

कालकी कल्पना

कालके मान और सीमाए—परिमाणोंकी सापेक्षता—प्रकाशका वेग और परमाणुकाल—परमाणुवर्ष—परमाणुकल्प और परमाणुब्रह्माकी आयु—भूत भविष्य वर्तमानकी सापेक्ष कल्पना—भूतकालकी घटनाका भविष्यकालमें दीखना वा भविष्यकी घटनाका भूतकालमें दीखना—कालकर्मका सम्बन्ध और काल और कर्मकी इकाई—कालकी शून्यता और अनन्तता।

जिस प्रकार देशकी कल्पनामें मान और सीमा दोनोंके द्वारा ही हम देशका परिचय पाते हैं, उसी प्रकार कालकी कल्पनामें भी मान और सीमा आवश्यक हैं। लव निमेष परमाणु पल विपल घडी सेकण्ड मिनिट घंटेसे लेकर कल्प और ब्रह्माकी आयुतक कालका ही मान है। हमारे यहाँ ब्रह्माकी आयु, ब्रह्माके दिन, कल्प और मन्वन्तरकी कल्पना ऐसी ऊँची सख्याओंमें की गयी है कि विज्ञानकेद्वारा प्राप्त संख्याओंकी उनमें काफी गुंजाइश है। यह याद रहे कि ब्रह्माकी आयु भी परिमित है। सृष्टि असंख्य बार हुई और असख्य बार होगी। कितने ब्रह्मा अपनी आयु पूरी करके मर गये और कितने ही इसी प्रकार होंगे और मरेंगे। सारांश यह कि ब्रह्माके जन्ममरणसे भी कालका अन्त नहीं होता। पृथ्वीपर आजकल चौबीस होराओं वा घण्टोंका एक रात दिनका परिमाण माना जाता है। पृथ्वीके आदि रूपमें, जब जल आजकलके रूपमें नहीं था, जब पृथ्वी तरल

आग्नेय दशामें थी, तब पृथ्वीके अनेक भागोंमें दो घण्टेमें ही दिनरातकी पूर्ति होती थी। भूगर्भविज्ञानियोंने सिद्ध किया है कि पृथ्वी जबतक ठण्डी नहीं हुई तबतक उसके भिन्न भिन्न अंश भिन्न भिन्न समयोंमें धुरीकी परिक्रमा किया करते थे। ज्योतिर्विद् कहते हैं कि बृहस्पतिकी वर्तमान दशा ठीक ऐसी ही है। यह बतलानेकी आवश्यकता न होगी कि अपनी धुरीका एक चक्कर लगा देनेसे ही एक दिनरातका परिमाण हो जाता है। यदि पृथ्वीके भाग भिन्न भिन्न कालमें पृथ्वीकी परिक्रमा करें तो दिनरातका परिमाण भी उन देशोंके लिये भिन्न भिन्न होगा। ध्रुवदेश उत्तर खण्डमें अथवा उसके निकटवर्ती लैपलैण्ड, ग्रीनलैण्ड आदि देशोंमें जो दिनरातके परिमाणमें अन्तर है वह और कारणोंसे है, जिनका वर्णन करना यहाँ बाहुल्यमात्र होगा। परन्तु इतना फिर भी हम यहाँ विदित कर देना आवश्यक नहीं समझते कि वर्त्तमान दशामें पृथ्वीके भिन्न भिन्न भाग भिन्न भिन्न कालमें धुरीकी परिक्रमा नहीं करते।

सूर्य्यके अस्त और उदयसे हम दिनरातकी गिनती करते हैं। चन्द्रमाके परिभ्रमणसे हम महीनेका हिसाब लगाते हैं। सूर्य्यकी गतिसे ऋतु और वर्ष हमारी समझमें आते हैं। यदि सूर्य्यको प्रमाण न मानकर हम शनिका प्रमाण मानते तो हमारा एक वर्ष तीस वर्षके बराबर होता। इसी प्रकार यदि हम बृहस्पतिको प्रमाण मानते तो हमारा एक वर्ष बारह सौर वर्षोंके बराबर होता।

छोटे मानोंमें घड़ी पल आदिकी कल्पना भी सापेक्ष ही है। कटोरेमें जल जितनी देरमें भर जाता है अथवा किसी एक पात्रमेंसे दूसरे पात्रमें किसी छोटे छेदसे निकलकर रेत

भर जाती है अथवा घड़ीमें एक चिह्नसे दूसरे चिह्नतक जितनी देरमें सुई पहुँच जाती है उतनी देरको घड़ी या घण्टा माना जाता है। सारांश यह है कि हम काम से समयका अनुमान करते हैं। मशहूर है कि बावर मोमबत्ती· के जल जानेसे समयका अनुमान करता था। समयके अनु· मानमें चाहे हम शनि, बृहस्पति, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि बड़े बड़े पिण्डोंकी गतिसे अटकल करें और चाहे बालुका यन्त्र जलघटी, छायाघटी या घडी आदि किसी यन्त्र अथवा छोटे पिण्डकी गतिसे समयका अनुमान करें। परन्तु समयके अनुमानमें सभी दशाओंमें किसी न किसी प्रकारकी गति ही प्रमाण है। हम कह चुके हैं कि प्रकाशकी गति एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकण्ड है। इसमें मील और सेकण्ड सबसे छोटे मान हैं। यदि हम प्रकाशकी घड़ीकी कल्पना करें और प्रकाशकी गतिसे समयका एक छोटा मान बनावें तो जितनी देरमें प्रकाश एक मील चलता है उतनी देरको सुगमतापूर्वक हम अत्यन्त अल्पकालका नपना बना सकते हैं। यह सेकण्डका १८६००० वां अंश होगा। यद्यपि हमारे शास्त्रकारोंका परमाणु नामक समय-मान एक भिन्न मान है तथापि सुगमताके लिए हम इस अत्यन्त अल्प मानको परमाणुकाल कहेंगे।

परमाणुकाल कहनेमें एक विशेष सुभीता है। विज्ञानके हालके आविष्कारोंमें यह एक बड़े महत्वकी बात जानी गयी है कि परमाणुओंकी रचना विद्युत्कणोंद्वारा हुई है। यह विद्युत्कण किसी विशेष विद्युत्कणकी चारों ओर बड़े वेगसे परिभ्रमण करते हैं। इस परिभ्रमणसे ही परमाणुकी सत्ता है। परिभ्रमणकी गति भी निकाली गयी है। कहते हैं कि

विद्युत्कणोंकी चाल लगभग एक लाख अस्सी हजार मील प्रति सेकण्डके है। यदि हम एक एक परमाणुको एक एक ब्रह्माण्ड मान लें और विद्युत्कणोंकी गतिसे ग्रहोंकी गतिके सादृश्यका अनुमान करें और सुगमताके लिए यह भी मान लें कि हमारे एक सेकंडमें विद्युत्कण अपने ब्रह्माण्डमें १ लाख ८० हजार चक्कर लगा लेता है। तो यह समझना कठिन न होगा कि परमाणु-मण्डलमें जितनी देरमें एक विद्युत्कणका परिभ्रमण पूरा होता है उतनी देरको वहांका एक वर्ष माना जा सकता है। इसको हम सुभीतेके लिए परमाणु-वर्ष कहेंगे।

अब यदि हम अपने वर्ष, युग, कल्प आदिका मान हिन्दू ज्योतिषके अनुकूल रखें तो हिसाबसे ४ अरब ३२ करोड़ परमाणु-वर्षोंका एक परमाणुकल्प हुआ, जो हमारे ६ घण्टे ४० मिनटके बराबर हुआ। ब्रह्माका एक अहोरात्र दो कल्पों-का होता है और ३६० अहोरात्रका एक ब्रह्मवर्ष होता है और ब्रह्माकी आयु सौ बरसकी मानी जाती है। इस हिसाब से हमारे पार्थिव वर्षोंके ५५ वर्षके लगभग परमाणु ब्रह्माण्डके ब्रह्माकी आयु हुई। अर्थात् मनुष्यकी साधारण आयुमें परमाणु ब्रह्माण्डके लाखों कल्प बीत जाते हैं। या योंही सोचिये जितनी देरमें हमारा एक सेकण्ड बीतता है उतनी ही देरमें परमाणु ब्रह्माण्डके १ लाख ८० हजार वर्ष बीत जाते हैं और परमाणु मानवकी ६ हजार पीढ़ियां हो जाती हैं। परमाणु-मानवकी दृष्टिसे हमारी साधारण आयु अनादि और अनन्त है। पर-माणु-मानव यह सोचेगा कि पार्थिव मनुष्य अनादि और अनन्त है, नित्य, सत्य, निरामय, गोतीत और निर्विकार है। एक पक्षसे यह भी सम्भव है कि वह हमको निराकार भी

समझे और हमारी सत्ताको अपनी कल्पनाके बाहर जाने, परन्तु इस अंशका विस्तार प्रस्तुत प्रसंगसे बाहर होगा, इसलिए हम यहां इतना ही कहना पर्य्याप्त समझते हैं।

वरुणग्रह हमारे सूर्य्यमण्डलके अन्तर्गत ही है और यद्यपि इस मण्डलमें हमसे इसकी दूरी बहुत है, तथापि तारोंकी दूरीसे इसकी कोई तुलना नहीं है। ज्योतिर्विद् जानते हैं कि वरुणग्रहका एक वर्ष हमारे १८० वर्षोंके बराबर होता है। हम यह सहजमें ही समझ सकते हैं कि हमारे यहांका ६० वर्षका बूढा वरुणग्रहके ६ महीनेके बच्चेके बराबर होगा और वहांका सौ बरसका बूढा हमारे यहाँके १८ हजार बरसका होगा। और यदि वहाँका मनुष्य वहाँके सवातीन सौ बरस जीता है तो वह हमारे यहाँके साठ हजार बरसके बराबर हुआ। वाल्मीकीय रामायणमें जहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणजीको ले जानेके लिए विश्वामित्रजीने दशरथजीसे प्रार्थना की है वहाँ राजा दशरथने कहा है कि—"हे कौशिक मैं साठ हजार वर्षका हो गया तब यह पुत्र उत्पन्न हुए हैं (षष्ठि वर्षसहस्राणि जातस्य ममकौशिक)। पार्थिव मानसे साठ हजार वर्ष बहुत होते हैं परन्तु वरुण-मानसे सवातीन सौ वर्षसे कुछ ही अधिक हुए। यदि किसी तारेका मान लें तो शायद साठ हजार वर्ष वहाँके तीस चालीस बरस या कहीं किसी और तारेके दो चार ही बरसके बराबर हों।

यह विश्व अनन्त है। ऐसे ऐसे भी पिण्ड हो सकते हैं जिनके वर्षका मान हमारी अपेक्षा इतना बड़ा हो कि हमारा एक एक कल्प उस पिण्डके एक एक क्षणके बराबर समझा जाय। ऐसी दशामें वह पिण्ड हमारे सत्यलोक या ब्रह्मलोकके बराबर होगा, जिसको हम नित्य, अनन्त, अविनाशी और

निर्विकार समझते हैं। हमारे लिए जैसे परमाणु-ब्रह्माण्ड वैसे ही उनके लिए हमारा सौर-ब्रह्माण्ड ठहरा।

समयकी आपेक्षता समझनेके लिए जो बातें हमने ऊपर दिखलायी हैं सम्प्रति पर्य्याप्त होंगी।

भूत भविष्य वर्तमान यह तीन काल भी आपेक्षिक ही हैं। इनके लिए विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो बात किसीके लिए भूत कालमें हुई उसीका किसी औरके लिए भविष्य वा वर्तमान कालमें होना सम्भव है। अथवा जो बात हमारे लिए भविष्यमें होनेवाली है बहुत सम्भव है कि किसी औरके लिए वही घटना भूतकालमें हो चुकी हो। आज आकाश-मण्डलमें ज्योतिर्विद एक अद्भुत दृश्य देखता है। दो तमोमय तारे आपसमें लड़ जाते हैं और एक तीसरा तेजोमय पिण्ड प्रकट हो जाता है। यह एक नये ब्रह्माण्डकी रचना है जो आज ज्योतिर्विद अपनी आंखोंसे देख रहा है। हिसाब लगानेसे पता लगता है कि प्रकाशके पहुँचनेमें बहुत देर लगी है। जो घटना हमको इस समय दीख रही है वस्तुतः पांच सौ बरस पहले हो चुकी थी। उस पिंडके जितने दृश्य हम देखते हैं सभी कुछ पांच सौ बरस पहलेके हैं। इसी प्रकार हमारी कल्पनामें यह बात भी आ सकती है कि यदि किसी तारा-जगत्में जहांसे प्रकाशके पृथ्वीपर आनेमें साढ़े चार हजार बरस लगते हैं ऐसे जीव हो जो अपनी अद्भुत शक्ति और विशेष यन्त्रोंके द्वारा पृथ्वीपरकी घटनाओंको देख सकते हैं तो उन्हें हमारे यहांकी महाभारतकी लड़ाई वर्तमान कालकी तरह दिखाई दे रही होगी। उनको पाण्डवों और कौरवोंकी सेना कुरुक्षेत्रमें मारकाट करती हुई आज दिखाई पड़ेगी। और आजकलका यूरोपीय महासमर उनके लिए साढ़ेचार हजार बरस बाद भविष्यमें होनेवाली घटना

होगी। ईसाइयोंके बाबा आदम और मथूसिला खेलते दीखते होंगे। उस समयकी घटनाएँ वहांके लोग इस समय देख रहे होंगे। और इधरका पांच हजार बरसोंका पार्थिव इतिहास यदि उनको आज ही किसी प्रकार मिल जाय तो उनके लिये खासा भविष्यपुराण होगा, जिसमें "विकटा नाम्नी राजमहिषी"-का वर्णन क्षेपक न समझा जायगा।

यह तो दूरका उदाहरण हुआ। पासका ही एक उदाहरण लीजिये।

गंगा उस पार एक धोबी पाटेपर पटक पटककर कपड़े धो रहा है। पटकनेका शब्द हमको तब सुनाई पड़ता है जब वह फिर पटकनेकेलिए ऊंचा उठा चुकता है। मान लीजिये कि इसमें तीन सेकंडकी देर लगी तो स्पष्ट है कि जो शब्द तीन सेकंड पहले पाटेपर हो चुका है वह हमें अब तीन सेकंड बाद सुनाई पड़ा। एकही घटना धोबीके लिए भूत कालमें हुई, हमारे लिए भविष्य कालमें।

भूत वर्तमान और भविष्य नामके यह तीन विभाग कर्म और घटनाके सम्बन्धसे सुभीतेके लिए नियत किये गये हैं। ठीक बात तो यह है कि वर्तमान कालकी कोई सत्ता ही नहीं। वर्तमान कालकी कल्पना हम कितने ही सूक्ष्म अंशमें करें यह बात स्पष्ट ही है कि प्रत्येक क्षण भविष्य कालके अक्षय कोषसे निकलकर सतत और निरन्तर भूत कालके नित्य वर्धमान कोषमें चला जा रहा है। इस प्रकार भविष्यसे भूत होनेमें जितनी देर लगे उतनी देरको ही वर्तमान काल कह सकते हैं। परन्तु वास्तवमें यह देर कुछ भी नहीं है। इसलिए वर्तमान कालकी कोई सत्ता ही नहीं है।

देशकी कल्पनापर विचार करते हुए हमने यह दिखाया

है कि जब किसी अवरोधके विरुद्ध किसी विशेष दूरीतक शक्तिकी गति होती है तो कहा जाता है कि काम हुआ है। यन्त्रशास्त्रमें काम या कर्मकी यही परिभाषा है। तात्पर्य्य यह कि रुकावटका मुकाबिला करते हुए दूरी तय की जाय तो कह सकते हैं कि शक्तिने काम किया। आधसेरका बोझ एक फुटकी ऊंचाईतक उठानेमें पृथ्वीके आकर्षणकी रुकावटका मुकाबिला किया गया और एक फुटकी दूरी तय की गयी। आधसेर एक पौण्डके बराबर होता है इसलिए यन्त्र शास्त्रमें इसी बातको यों कहते हैं कि एक फुट-पौण्ड काम हुआ। परन्तु जो कुछ काम किया जाता है उससे ही हम समयका भी अनुमान करते हैं। इसलिए यदि हम काम या कर्मकी इकाई बनाना चाहें तो हमें समयका बिना विचार किये हुए भार और दूरी अथवा भार और देश इन दोनोंका विचार करना होगा। भार और देशके विचारसे कामकी मात्रा निश्चित हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि इतने फुट-पौंड काम हुआ। परन्तु यदि हम बलका निर्देश करना चाहें या हम यह जानना चाहें कि काम करनेमें कितना बल लगा तो काम करनेमें कितना समय लगा यह भी विचार करना आवश्यक होगा। इस प्रकार बलकी इकाईका मान यदि मिनिटोंमें निश्चित किया जाय तो हम यों कह सकते हैं कि एक मिनिटमें एक पौंड बोझ एक फुट ऊंचा उठानेमें जितना बल लगा वह बल एक बल वा बलकी इकाई कहला सकता है। निदान काम करनेकी दर नियत करनेमें हमको समयका विचार करना पड़ता है। सारांश यह कि कर्मसे ही हम समयका अनुमान करते हैं। इन दोनों बातोंका अन्योन्याश्रयसम्बन्ध है। समयका अनुमान हम कर्म वा घटनाओंसे करते हैं और कर्मका वा घटनाओंका

अनुमान समयके द्वारा करते हैं। इन दोनों बातोंपर विचार करनेसे यही स्पष्ट होता है कि समयके विषयमें हमारी जो कुछ कल्पना है वह कर्म्ममात्रपर निर्भर है। चाहे वह घटना वा कर्म आकाशके पिंडोंकी गतिकी नाई प्राकृतिक हो अथवा मनुष्यको साधारण क्रियाओंकी तरह मानवी। हम यह भी दिखा आये हैं कि हमारा एक सेकंड किसी औरके एक कल्पके बराबर हो सकता है और किसी औरका एक क्षण हमारे लिए ब्रह्मा-की आयुके बराबर हो सकता है। और यह तो एक साधारण अनुभव है कि शोकका अल्प क्षण भी कल्पके समान बीतता है और हर्षके वर्ष ऐसे बीत जाते हैं कि पता नहीं लगता। स्पष्ट है कि कालका अनुभव जिस किसी रूपमें हमारे मन-को हो किसी नित्य परिमाणमें नहीं हो सकता अर्थात् देशकी तरह कालका विचार भी सापेक्ष ही है।

अब शून्यता और अनन्ततापर जब विचार करते हैं तो, जैसा हम देशके विचारमें दिखा आये हैं एक ओरसे तो काल अनन्त हो जाता है और दूसरी ओरसे शून्य वा उसका अत्यन्ताभाव दिखाई पड़ता है। या यों कहिये कि हमारे मीमांसकोंके अनुसार या तो काल अनन्त ही है और कल्पना-तीत है या उसकी कोई सत्ता ही नहीं। क्योंकि बाह्य घटना-ओंका अथवा उनकी सत्ताका हमारी इन्द्रियोंके विशेष नाडी जालपर विशिष्ट प्रभाव पड़ता है, जिससे हमारी चेतनामें घटनाओंके क्रमका अथवा आगे पीछे होनेका भाव उत्पन्न होता है और हम कालकी कल्पना करते हैं। जिस रूपमें काल हमको व्यक्त होता है वह हमारी चेतनाका आन्तरिक भाव है और उसकी बाह्य सत्ता कुछ भी नहीं है।

तीसरा प्रकरण

जगत्‌की सृष्टि और लय

जगत् शब्दका अर्थ और उसकी व्याप्ति—नाश और सतत परिवर्तनमें भेद—जगत् क्या है, कितना है?—लय और प्रलयपर मतभेद—विज्ञानकी कसौटी—चित् और अचित्—शक्ति और जड़प्रकृति—युरेनियम आदि धातुओंकी आयु—जगत्‌का मूल विद्युत् है—सौर ब्रह्माण्डकी रचनापर वैज्ञानिक मत—पौराणिक मत—ब्रह्माण्डवृक्ष, सृष्टिविकास—सृष्टि क्रमशः हुई है—अन्त भी क्रमशः होगा—जगत् या तो अनाद्यन्त है या क्षणिक है।

देश और कालकी कल्पनासे ही जगत्‌की कल्पना भी होती है। हमारे यहां जगत् या संसार शब्दसे ही यह प्रकट होता है कि अपनी सभ्यताके आरंभसे ही हम समस्त गोचर पदार्थोंके समूहको सततपरिवर्त्तनशील जानते हैं। संसार और जगत्‌का अर्थ है गमनशील, वा क्षणिक, जिससे यह स्पष्ट है कि दृश्य जगत्‌का सदा बदलते रहना साधारण अनुभवसे जानी हुई बात चली आयी है। अपने जन्मसे लेकर मरणतक मनुष्य जितनी बातोंका अनुभव करता है, सबमें दो बातें अवश्य पाता है, आदि और अन्त। परन्तु साथ ही यह भी देखता जाता है कि किसी पदार्थका भी आरंभ किसी अन्य पदार्थसे होता है और उसका अन्त भी ऐसा नहीं होता कि उससे अन्य कुछ किसी बदले हुए रूपमें बच न जाय। बीजसे वृक्ष वृक्षसे बीजका होना साधारण उदाहरण है। वैज्ञानिकोंने तो इसपर सैकड़ों परीक्षाएं की हैं और करते जा रहे हैं, जिससे अबतक यही सिद्ध होता आया है कि पदार्थका विनाश नहीं होता केवल स्थानपरिवर्त्तन

होता है। हमारे देखते ही देखते मोमबत्ती जलकर गायब हो जाती है पर रासायनिक अपने कांटोंपर तौलकर बता सकता है कि तोलमें जितनी मोमबत्ती जली उतनी ही वाय-व्यरूपमें वायुमें मिली हुई मौजूद है। शरीर मरनेपर सड़-गलकर या जलभुनकर और रूपोंमें बदलकर इसी जगत्में रह जाता है और साधारण विचारसे आत्मा यदि अजर अमर माना जाता है तो यातो समाधिमें पड़ा रहता है या पुनर्जन्म पाता या प्रेतयोनिमें रहता है। नास्तिकोंके अनुसार जो मनुष्य आत्माको अमर नहीं मानता और इन्हीं पार्थिव तत्त्वोंसे सम्मिलित पदार्थ समझता है शरीरके साथही जीवका मरण भी मानता है। सो, आत्मा इस तरह भी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ, उसकी सामग्री विकीरित होकर दूसरे रूपोंमें परिणत हो गयी। निदान आस्तिक नास्तिक सभ्य असभ्य धर्म्मात्मा और पापी सभी यही मानते हैं कि संसार सदा बदलता रहता है और अधिक बदलनेको ही नाश, मौत, फना आदि नामोंसे पुकारते हैं। थोड़ा थोड़ा परिवर्त्तन तो निरन्तर होता ही रहता है। बच्चा बढ़ता है, तो कैसे? उसके पहलेके मांसतंतु नष्ट होते रहते हैं और नष्ट होनेवाले तंतुओंकी अपेक्षा आगेके लिए अधिक बनते रहते हैं। यह क्रिया तबतक जारी रहती है जबतक मनुष्यकी बाढ़ जारी रहती है। जब उसे बढ़नेकी आवश्यकता नहीं रहती, औसत हिसाबसे उसके शरीरके कणोंका क्षय और वृद्धि दोनों समान परिमाणमें होते रहते हैं। जब उसके मानवजीवनका अन्तिम पटक्षेप होनेका समय आता है क्षय-की क्रिया अधिक और वृद्धिकी क्रिया कम होने लगती है। इस तरह वृद्धि और क्षय तो नित्यकी बात है। परन्तु गर्भा-

धान ही उसका आरंभ और शरीरसे चेतनाका सदाके लिए दूर हो जाना ही उसका अन्त समझा जाता है।

जो हो, सतत परिवर्त्तनको देखते हुए भी एकाएकी किसी स्थितिका आरंभ वा अन्त,देखनेसे मनुष्यके मनमें यह कल्पना उठती ही है कि इस जगत्का भी कभी एकाएकी आरंभ हुआ है और किसी दिन पलक भांजतेमें अन्त भी हो जायगा। इन्हीं कल्पनाओंपर यह प्रश्न उठते हैं कि यह जगत् क्या है? इस जगत्का आदि अन्त भी है? आदि अन्त है तो जगत् कब उत्पन्न हुआ? उसका कब विनाश होगा? इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिए पहले यह भी निश्चय करना पड़ेगा कि जगत् कितने गोचर वस्तु-समूहका नाम है? क्या जगत् देश-की सीमाओंसे परिमित वा परिच्छिन्न है?

अधपढ़े लोग चाहे किसी समाज वा सम्प्रदायके हों जगत् वा संसार इस धरतीको ही समझते हैं। पृथ्वीसे परे असंख्य लोकोंकी गिनती उनके अनुसार जगत्की परिभाषामें नहीं आती। साधारण बोलचालमें भी इसी अर्थमें जगत् शब्दका बोध होता है। इसी अर्थमें यहूदी ईसाई मुसलमानके अनुसार पहले अन्धकार था। जगत्की सत्ता न थी। ईश्वरने कहा कि प्रकाश हो जाय। हो गया। दोनोंका अन्तर पहला अहोरात्र हुआ। इसी प्रकार प्रलयकालमें ईश्वरकी आज्ञासे समस्त संसार एकाएकी अनेक उपद्रवोंमें पड़कर नष्ट हो जायगा। हिंदुओंके यहां पुराणोंकी कथाओंमें यद्यपि विस्तारमें अन्तर है तथापि "यथापूर्वमकल्पयत्"का सिद्धान्त बराबर अक्षुण्ण रीतिसे बना रहता है। बल्कि प्रलयकालमें जन तप सत्यलोक ही क्यों, महर्लोकको भी बचा हुआ ही मानते हैं। हम कालकी कल्पनामें इस बातपर विचार कर आये हैं कि सत्यलोकका

नित्य अविकार माना जाना किस प्रकार सापेक्ष रीतिसे सयुक्तिक और सुसंगत है। हिन्दू ग्रंथोंमें जगत्की कल्पना चराचर नित्य बनते बिगड़ते रहनेकी है और जगत् शब्दसे तीनों विनाशी लोकोंका ही प्रायः बोध होता है। जैनी लोग समस्त दृष्टिगोचर वस्तु समूहको जगत कहते हैं और उसे अनादि अनन्त मानते हैं। उनके यहां सृष्टिप्रलयके झगड़ेकी समाई ही नहीं है। बौद्ध जगत्को क्षणिक मानते हैं। जो कुछ भी स्थायित्व नहीं रखता उसकी उत्पत्ति या आरंभकी क्या कथा !

सारांश यह कि सभी साम्प्रदायिक लोग तथा जनसाधारण यानो जगत् शब्दसे किसी परिच्छिन्न या परिमित वस्तु समूह का अर्थ लेते हैं, या उसमें अपरिमित और अपरिच्छिन्न समस्त विश्वको अभिप्रेत मानते है।

यदि जगत्से समस्त अपरिमित विश्व समझा जाय तो वैज्ञानिकोंका अबतक यह अनुमान है कि समस्त विश्वका एकदम एक साथ न तो लय होगा और न सबकी एकदम एकसाथ सृष्टि हुई है। सृष्टि और लयके आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त पूर्णतया निश्चित नहीं हुए हैं। विज्ञान वर्द्धमान शास्त्र है। कोई प्रस्तावित नियम या सैद्धान्तिक कल्पना ज्योंही विज्ञानके बाजारमें आती है जांच, परीक्षा या प्रयोगकी कसौटीपर उसका कसा जाना आरंभ होता है। बड़े बड़े चतुर पारखी उसकी जांच एकबार दो बार नहीं सैकड़ों हजारों बार करते हैं तब जाकर उसे "सिद्धान्त"के पदका अधिकार मिलता है। जबतक परखनेवालोंके सामने नित्यके वैज्ञानिक तथ्य उस पदकी योग्यताकी गवाही देते रहते हैं तबतक वह कल्पना सिद्धान्तपदपर बनी रहती है। यहां बहुमतकी ज्यादा परवाह नहीं की जाती। एक तथ्यने भी उसकी योग्यताका

विरोध किया और सिद्धान्तके क्षेमकुशलका अन्त हुआ। यहां प्रमाण मानी जानेवाली उपनिषद् वा गीता नहीं जिसकी दुहाई दी जा सके। अनुभव ही एकमात्र प्रमाण है। तो भी अबतक इस विषयमें विज्ञानकी जैसी धारणा हुई है वह विचार करनेके योग्य है।

विज्ञानके अनुसार सृष्टिमात्रमें दो विभाग समझे जाते हैं जिसे हम श्रीसाम्प्रदायिक वेदान्तियोंके शब्दोंमें चित् तथा अचित् कह सकते हैं। अचित्में भी दो बातें पायी जाती हैं, जड़ पदार्थ और शक्ति। इन दोनोंका अटूट सम्बन्ध है। एक-की कल्पना दूसरेके बिना हो नहीं सकती। मिट्टीका एक ढेला जड़ पदार्थ है, उसमें मिट्टीके कण एक साथ मिले हुए हैं, यह भी एक शक्ति है। उसमें भार है और पृथ्वीके उसके परस्पर आकर्षणका नाता है। यह दूसरी शक्ति हुई। बिना इन शक्तियोंके ढेलेकी स्थिति नहीं *। ढेलेके प्रत्येक कणमें ही क्या, जिन अणुओंसे यह कण बने उनकी स्थिति भी युयुत्सा शक्तिसे ही है। जिन परमाणुओंकी पारस्परिक युयुत्सासे अणुओंकी स्थिति है, उनका वेगसे परिभ्रमण करते रहना बहुत कालसे समझा जाता है। परन्तु पचीस बरस पहले वैज्ञानिकोंका भी यही विश्वास था, यही धारणा थी, कि परमाणु अखंड और अनादि अनन्त हैं, क्योंकि परमाणु-ओंके बनने, बिगड़ने वा खंड खंड होनेका कोई प्रमाण नहीं मिला था। युरेनियम रेडियम आदि कई धातुओंने तबसे इन प्राचीन कालके सिद्धान्तोंकी नीवें हिला दी हैं। परमाणुओं-को अनादि अनन्तके ऊंचे पदसे गिराकर विनाशी सिद्ध कर

---

*भूमिरापोऽनलोवायुः खमनोबुद्धिरेवच अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धिमेपराम् जीव भूतामहाबाहो ययेद धार्य्यते जगत्। गी०।

दिया है। ऐसे ऐसे परमाणु मिले जिनका जीवन मिनिटोंमें ही समाप्त हो जाता है, जिनका जन्म भी उतनी ही शीघ्रतासे होता है। परमाणुओंकी आयु और जन्म-मरणका हिसाब लगाया गया। परीक्षा और गणितकी सहायतासे मालूम हुआ कि युरेनियम बहुत अल्पजीवी धातुओंमें है, सो उसकी आयु साढ़ेसात अरब सौर वर्ष है। जो स्वर्ण सीसा आदि दीर्घ-जीवी धातु हैं उनका जीवन इसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। यद्यपि इनका जीवन इतना दीर्घकालिक है कि हमारे हिसाब-से डेढ़ कल्पसे भी अधिक युरेनियमका या उरणका ही जीवन है, और स्वर्ण आदिके परमाणु न जाने कितने कल्पोंके ठहरेंगे, तो भी परमाणुओंका आदि अन्त निश्चित हो गया और यह आदि अन्त इस अर्थमें नहीं कि महाप्रलयमें सारा विश्व बीज-रूपसे ब्रह्ममें लीन हो जायगा, बल्कि इस अर्थमें कि प्रत्येक प्रकारके परमाणुओंका जीवनकाल अलग अलग है, एक प्रकारके परमाणु नष्ट होते रहते हैं और दूसरे प्रकारके उत्पन्न होते रहते हैं। उन परमाणुओंका नाश कैसे होता है? युरेनियम रेडियम आदिके परमाणुओंकी परीक्षासे पता चला कि भारी परमाणुके खंड खंड कल्पनातीत वेगसे उड़ते जाते हैं और फिर एकत्र हो होकर हलके परमाणु बनाते जाते हैं।

साधारण प्रकाशके तरंग अत्यन्त छोटे होते हैं। आंखके परदेपर इन्हीं तरंगोंके प्रतिफलित होकर पड़नेसे वस्तुके देखनेका हमें भान होता है। परन्तु परमाणुकी छुटाई प्रकाशके तरंगोंसे भी अधिक है। पूरा एक तरंग भी उसपर नहीं पड़ता। इसीलिये उत्तमसे उत्तम सूक्ष्मदर्शक यंत्र भी पर-माणुको दिखा नहीं सकते। परन्तु परमाणुके खंडोंमें जिनका नाम अनेक कारणोंसे विद्युत्कण रखा गया है स्वतः प्रकाश है।

वह भिन्न प्रकारका है. किसी ज्योतिग्राहक परदेके सहारे अंधेरेमें दीखता है। विद्युत्कण दर्शक यंत्रमें* अणुवीक्षक काँचके लगे रहनेसे प्रत्येक विद्युत्कण ज्योतिविकीरक परदे-पर टूटकर गिरता है और अलग अलग चमकता दीखता है। यह विद्युत्कण वस्तुतः बिजलीके कण हैं और टामसन नामक भौतिक विज्ञानके प्रसिद्ध आचार्य्यका मत है कि जिसे हम जड़ पदार्थ कहते हैं वस्तुतः विद्युत्का ही एक तरहसे घनी-भवन है। सो, निष्कर्ष यह निकला कि अचित् वा जड़ पदार्थ जो शक्ति और वस्तुके मेलसे बना माना जाता था वस्तुतः विद्युत्के दो रूप हैं। विद्युत् ही जड़ पदार्थ है और विद्युत ही उसको धारण करनेवाली शक्ति है।

और विद्युत स्वयं क्या है? यह वह गुथी है, जो अबतक विज्ञान सुलझा नहीं सका है। उसके बड़े बड़े आचार्य्योंके मतसे आकाश नामक अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थके भीतर शक्तिका घनीभवन है जिसे विद्युत् कहते हैं। यह और भी बखेड़ेकी बात हुई। परमाणुओंके विचारमें तो द्वैतवादसे पिंड छूटा था और एक विद्युतपर ही बात आयी थी। पर विद्युतकी खोज में क्या फिर द्वैतवादने पल्ला पकड़ा? क्या सूक्ष्म आकाश कोई भिन्न वस्तु है? इसपर टामसनका सम्प्रदाय फिर भी विद्युतके ही भिन्न भिन्न रूपों वा घनी-भवनोंको आकाशका उपादान ठहराता और विद्युतको ही एकान्ततः सबका मूल बताता है। सारांश रूपसे इतना ही कहना उचित जँचता है कि समस्त जगत् विद्युत वा शक्तिके ही विविध रूपों और अवस्थाओंका नाम है।

---

* इसे स्पिथरिस्कोप भी कहते हैं। क्रुक्स नामक वैज्ञानिकने इसे निर्माण किया है।

विज्ञानने यह निश्चय कर लिया कि परमाणुओंकी आयु अलग अलग है और उनका जन्म हुआ है, उनका आरंभ है और अवश्य है पर उनका जन्म न तो साथ हुआ और न मरण साथ होगा. उनका जन्ममरण नित्य जारी है और उसी तरह जारी है जिस तरह अन्य सभी सांसारिक वस्तुओंका। इन्हीं परमाणुओंसे जगत्की स्थिति है और यह सब विद्युत्के बने हुए हैं। जगत् विद्युत् वा शक्ति है, इसकी वास्तविक आदि वा वास्तविक अन्त नहीं है। विज्ञानकी दृष्टिमें केवल यह पृथ्वी या सूर्यमंडल ही जगत् नहीं है, वरन संख्यातीत ब्रह्मांड जिसका वैज्ञानिकको अनुभव नहीं है परन्तु अनुमान है, सभी जगत्के अन्तर्गत है, हाँ जिसे खंडप्रलय कहते हैं, वह निरन्तर होता ही रहता है। उसे ही वैज्ञानिक परिवर्तन कहता है और हमारा जगत् वा संसार शब्द भी इसी अर्थका द्योतक है।

तो क्या वैज्ञानिकके मतसे महाप्रलय नहीं होता? क्या सृष्टिका आरंभ वह नहीं मानता? होता है और वह मानता है परन्तु इसी विशेषणके साथ कि समस्त विश्वका नहीं, अलग अलग ब्रह्माण्डोंका। उसके मतमें ब्रह्मांड ऐसे पिंडोंके एक केन्द्रस्थ पिंडके समूहका नाम है जिसमें चारों ओर कई पिंड चक्कर लगाते हों। सूर्य्यके इर्द गिर्द बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति शनि, उरण, वरुण आदि बड़े छोटे ग्रह अपने उपग्रहोंको लिये दिये घूमते हैं यह समस्त एक ब्रह्मांड है जिसे वैज्ञानिक सौर ब्रह्मांड कहता है। आकाशमें जो तारे दीखते हैं प्रायः अपने अपने ब्रह्मांडोंके विशालकाय अत्यन्त उत्तप्त तथा ज्योतिष्मान सूर्य्य है। वैज्ञानिक दूरबीनसे देख रहा है। एकाएकी आकाशमें बड़ी ज्योतिके साथ एक नया तारा उदित हो जाता है और उसकी ज्योति फिर घटने लगती

है और कुछ ही दिनोंमें किसी नक्षत्रके एक साधारण तारेकी श्रेणीमें उसकी गिनती होने लगती है। गणितसे पता लगता है कि जो घटना उस दिन देख पड़ी थी वस्तुतः ५०० बरस पहले हुई थी। वह घटना थी नये ब्रह्मांडका एकाएकी निर्म्माण। दो तमोमय सूर्य्योंके संघर्षसे नया ब्रह्मांड बन गया। परन्तु लाखों बरसमें कहीं उसके कोई कोई ग्रह इतने ठंडे होंगे कि उनपर जीवन का आरंभ हो। इसी तरह विज्ञानके मतसे इस सौर ब्रह्मांडकी सृष्टि भी करोड़ों बरस हुए कुछ ऐसे ही ढंगपर हुई थी और धरती भी लाखों बरस बाद कहीं इतनी ठंढी हो पायी कि उसपर पहले पहल जलके प्राणी तथा जल-के वनस्पतियोंका आविर्भाव हुआ। तबसे क्रमशः लाखों बरसमें विकास होते होते मनुष्यकी सभ्यताका उदय हुआ। बृहस्पति आदि कई ग्रह अभी इतने तप रहे हैं कि ठढ़ स्थल वहां अबतक नहीं बना, अबतक उसका पिंड खौलते हुए चट्टानों और वायव्योंका बना हुआ है। यह भी अनुमान है कि ठंढी होते होते किसी दिन यह धरती मनुष्यके रहने योग्य न रह जायगी या शायद किसी अन्य पिंडसे किसी कालमें टकरा जायगी। वही समय इस धरती के प्रलयका होगा। धरतीके साथ ही साथ समस्त विश्वका नाश हो जाना आवश्यक नहीं है।

सृष्टिके वर्णनमें हिन्दू ग्रन्थोंमें जहां कथाका विस्तार है वहां मतभेद भी है। परन्तु मोटी रीतिसे पृथ्वी मधुकैटभके मेदसे बनी मानी जाती है। इस तरह इसे ब्रह्माकी छोटी बहिन समझना चाहिए। ब्रह्माके मरीचि, मरीचिके कश्यप और कश्यपके सूर्य्य हुए। बृहस्पतिकी उत्पत्ति ब्रह्माके पुत्र अंगि-रासे बतायी जाती है और मंगलकी पृथ्वीसे। चन्द्रमा और

बृहस्पतिकी स्त्री ताराके संयोगसे बुधकी उत्पत्ति हुई। शुक्रकी उत्पत्ति ब्रह्माके पुत्र भृगुसे हुई। शनिके पिता सूर्य्य हैं। उरण वरुण नवदृष्ट ग्रह हैं इनके पिता भी सूर्य्य ही माने जायँ तो अनुचित न होगा। चन्द्रमा तो समुद्रसे निकला प्रसिद्ध ही है। सत्ताईस नक्षत्रोंके नाम प्रायः स्त्रीवाचक हैं। यह दक्षकी कन्याएँ कही जाती हैं, अगस्त्य ब्रह्माके पुत्र हैं, सप्तर्षि तारे भी ब्रह्मासे ही हुए। ध्रुवका परिवार भी ब्रह्मासे ही कई पीढियोंमें हुआ। नीचे का वंशवृक्ष इन बातोंको स्पष्ट कर देगा।
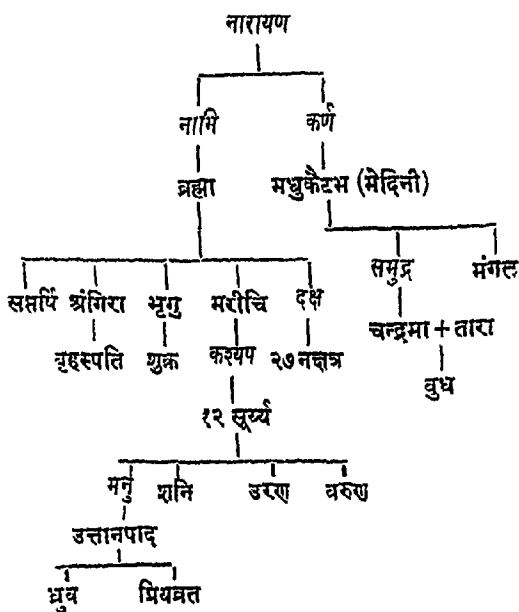
इस वंशवृक्षमें उन नामोंके सिवा जो *तिर्यक अक्षरों*में दिये गये हैं सभी आकाशमें तारों और ग्रहोंकी गिनतीमें आ गये। पुराणकी कथाएँ पुरानी ही ठहरीं। प्राचीन कालसे जिन बातोंको परम्परासे सुनते आये हैं उनके ही संकलनको पुराण कहते हैं। पुराणोंमें "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च" आदि लक्षणोंके अनुसार सृष्टिके आरंभका इतिहास होना आवश्यक है परन्तु सुनी सुनाई बातोंके होनेसे न केवल परस्पर मतभेद है, वरन कथामें भी कहीं रोचकताके लिए कहीं भयानकताके लिये और कहीं वैचित्र्यके लिए और कहीं कहीं कथा अधिकांश प्राचीन कथाके वास्तविक मर्मके समझमें न आनेसे अपनी समझके अनुसार दोषपरिहारके लिए अनेक बातें ऐसी मिल गयी हैं कि नीरक्षीर-विवेक अत्यन्त कठिन काम हो गया है। विंसेंट-स्मिथके इस कथनसे हम सहमत हैं कि पुराणोंमें जो कथाएं दी गयी हैं उनमेंसे बहुतेरी वैदिक कथाओंसे भी पुरानी हैं। पुराण पुरातत्वके अन्वेषणकी एक अपूर्व सामग्री है, ऐसी अच्छी सामग्री है कि संसारमें प्राचीनसे प्राचीन ग्रन्थ उनकी तुलनामें हलके ठहरते हैं। पुरातत्वसे हमारा तात्पर्य्य केवल पांच सात हजार बरसके भीतरका तत्वान्वेषण नहीं है। हम पुरातत्वमें वा प्रत्नतत्वमें इस धरतीकी सृष्टितकका इतिहास अन्तर्गत समझते हैं। जो वंशवृक्ष हम दे आये हैं उसपर वैज्ञानिक दृष्टि डालनेसे और कथा भागके वैचित्र्यवाले अंगपर विचार न करके उसके विस्तारको आधुनिक कल्पनाका रूप देनेसे ऐसा जान पड़ता है कि यह वंशवृक्ष वस्तुतः अवैज्ञानिक नहीं है। भारतके पुराने लोग सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे मानते थे इसका पता चलता है। ब्रह्मा रचना करनेवाली रजोगुणात्मिका शक्तिका नाम है जो

सत्वगुणात्मिका शक्ति नारायणकी नाभि या भ्रमणकेन्द्रसे उत्पन्न हुई। मधुकैटभ नामक दो तमोमय तारे या दैत्य लड़ गये जिनसे एक पिंड नया बना जिसका नाम मेदिनी हुआ। मेदिनी आजकलकी हमारी धरतीसे शायद कई गुना बड़ी थी। इसी मेदिनीसे मंगल तथा अनेक छोटे मोटे ग्रह भी जो पृथ्वी और मंगलके बीचमें लगभग ७००की संख्यामें चक्कर लगा रहे हैं, कालान्तरमें टूट टूटकर अलग हुए। इनके अलग होनेके बहुत काल पीछे पृथ्वीके दक्षिणी भागसे टूटकर चन्द्रमा अलग हुआ। दक्षिणी भागमें अब भी जलका ही आधिक्य है। परन्तु जिस समय चन्द्रमा अलग हुआ था जल बना ही न था। पृथ्वीपर उद्जन द्रव और आग्नेय रूपमें खौल रहे थे, सो पृथ्वीका दक्षिण स्थल भाग ही वस्तुतः तप्त द्रवसमुद्रसे अलग हो गया। उसके रिक्त स्थानको जब जल बना उसने ले लिया। चन्द्रमा छोटा पिंड होनेसे जल्दी ठंडा हो गया। मंगल और पृथ्वी बड़े पिंड थे लगभग बराबर थे मसाले भी दोनोंमें बराबर थे इससे देरसे ठंडे हुए। मंगल छोटा होनेसे पृथ्वीकी अपेक्षा जल्दी ठंडा हुआ। मरीचि और अंगिरा दोनों बड़े उत्तम तारा थे। इन नामोंका अर्थ भी तेजस्वताका पता देता है। इनसे कश्यप और बृहस्पति यह दो तारे हुए, कश्यपसे आजकलके सूर्यसे कहीं बड़ा आदित्य नामक तारा हुआ। बृहस्पतिसे एक पिंड टूटकर पृथ्वीके किसी टूटे हुए पिंडसे लड़ कर और मिलकर बुध हुआ, जिसके लिये कथा है कि बृहस्पतिकी स्त्री तारासे चन्द्रमाने बुधको उत्पन्न किया। यह वही चन्द्रमा नहीं है जो पृथ्वीकी परिक्रमा करता है। चन्द्रमाके समुद्रसे उत्पन्न होनेके पहले भी देवताओंमें अर्थात् चमकनेवालोंमें शामिल

होना वर्णित है। इस उपद्रवमें बुध सूर्य्यके पास होकर उस पिंडकी परिक्रमा करने लगा। शुक्र स्वतः ब्रह्माके पुत्र भृगुसे उत्पन्न हुआ। गुरु और शुक्रके मतभेद और लड़ाइयां भी प्रसिद्ध हैं, सो शुक्र और वृहस्पति लड़भिड़कर टुकड़े टुकड़े होकर वर्त्तमान रूपमें हों तो आश्चर्य्य ही क्या है। इनके चन्द्रमा ही इनके टुकड़े हैं। शनि तो सूर्य्यका बेटा ही ठहरा। आदित्यके अनेक टुकडे हुए। हमारी समझमें शनि, वरुण, वरुण, उसके ही टुकड़े हैं। यह सर्गिक उपद्रव आकाशमें बहुत कालतक रहकर जब सबकी गति निश्चित हो गयी, सबसे बड़े पिंड सूर्य्यकी प्रदक्षिणामें जब सभी लग गये, तभी समझना चाहिये कि यह सौर ब्रह्मांड बन गया।

इस तरह पुराणोंमें वर्णित सर्गका विषय विज्ञानके रंगोंमें रंगकर हम पेश कर सकते हैं। सृष्टिके अबतकके वैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर ही पुराणकी ऐसी व्याख्या हुई है। विस्तारकी दृष्टिसे यह आपत्ति हो सकती है कि विविध पिंडोंकी रचनाका सामंजस्य आधुनिक वैज्ञानिक कल्पनाके विस्तारसे नहीं मिलता। न मिले। वह कल्पना-विस्तार है तो यह पौराणिक परम्पराका विस्तार है। इसका महत्व उससे अधिकही है।

विज्ञानका विकासवाद* क्रमश. उत्तप्त पृथ्वीके ठंढे होनेके बाद जलमें जीवकी उत्पत्ति और फिर धीरे धीरे स्थलपर प्राणियोंका फैलना और विकास बताता है। पुराणोंमें विष्णुके दसों अवतार ठीक इसी क्रममें मिलते हैं और कथाओंके

---

* "आकाशद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्या पृथिव्यः" इत्यादि उपनिषत्के कथनोंपर बडे महत्वका विस्तार सभव है। यह वाक्य आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि-कल्पनासे पूरा सामजस्य रखते हैं।

विस्तारसे भी विकासका ही पता लगता है। विषयके बढ़ जानेके भयसे और प्रस्तुत वादसे उसका विशेष सम्बन्ध न होनेसे हम इतनी ही चर्चा यहां पर्याप्त समझते हैं।

सारांश यह कि पुराणोंके अनुसार विचार करें या विज्ञानके अनुसार ही बहस करें किसी रीतिसे यह सिद्ध नहीं होता कि सृष्टि किसी एक दिन या एक समयमें ही बनकर तय्यार हो गयी, कोई यह नहीं कह सकता कि अमुक समयमें ही सृष्टिका सूत्रपात हुआ है। ब्रह्माका आविर्भाव होनेपर भी कई हजार बरस उनके तपके बताये जाते हैं, उनकी सृष्टि-रचना भी क्रमशः तपसे ही धीरे धीरे एक एक करके बतायी जाती है। प्रजाकी वृद्धि भी धीरे धीरे हजारों बरसोंमें बताते हैं तपस्याका महत्व आदिसे ही गाया गया है। विज्ञान भी तपस या तापसे ही सबका आरम्भ और विकास बताता है। मेदिनीकी आदि भी दो दानवोंका शव बताया जाता है। यह कोई नहीं कहता कि ईश्वरने कहा पृथ्वी हो जाय और हो गयी।

पुराणोंके अनुसार पृथ्वी पहलेकी है सूर्य्य पीछेसे हुआ। अतः पृथ्वीकी उत्पत्ति सौर दिनरातकी उत्पत्तिके पहले ही हुई। वैज्ञानिक कल्पनाके अनुसार पृथ्वीको सूर्य्यका टुकड़ा मानें तो भी यह कहना कठिन है कि दिनरातका आरम्भ कब हुआ। जब सृष्टिके विविध अंगोंका विविध समयोंमें आगे पीछे आरम्भ हुआ तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सृष्टि इतने कालकी है? एक एक अंगकी रचनाके आरम्भकालकी अटकल थोड़ी बहुत मोटी रीतिसे हो सकती है। सो पृथ्वीका जन्मकाल वैज्ञानिक और पौराणिक दोनों ही रीतियोंसे चार पांच अरब सौर वर्षोंसे कम नहीं मालूम होता। पर हम कह आये हैं कि जिस मसालेकी

यह धरती बनी है वह किसी पुराने भट्टेसे आया था। पुराने जगत्‌का ध्वंसावशेष था। पृथ्वी जिन धातुओं और भौतिक पदार्थोंकी बनी हुई है उनकी आयु पृथ्वीसे कहीं अधिक है। युरेनियम ही जो बहुतोंकी अपेक्षा अल्पजीवी है साढ़ेसात अरब बरसोंकी आयुवाला है—दीर्घजीवियोंकी तो कथा ही क्या है ?

इन बड़े बड़े पिंडोंका नष्ट होना और नया बनना बहुत दीर्घ कालमें होता है, बहुत विस्तीर्ण देशको छेंकता है—उसी तरह जैसे इस पृथ्वीके छोटे प्राणियों वा कीड़ोंका जन्ममरण थोड़े ही देशकालके परिमाणमें हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि इस तरहका खंडप्रलय सापेक्ष है। पृथ्वीकी उत्पत्ति और विनाश हमारी दृष्टिमें महासर्ग वा महाप्रलय उसी तरह होगा जिस तरह किसी प्राणीके शरीरस्थ जूँ चीलर आदि अनेक जीवोंके लिए उस प्राणीकी उत्पत्ति वा विनाश होगा। जो एकके लिए महाप्रलय है दूसरेके लिए खंडप्रलय है।

इसी दृष्टिसे ब्रह्मांडोंका बनना बिगड़ना भी यद्यपि महा-प्रलय है तथापि वस्तुमात्रका अभाव हो जाना नहीं है। अभाव तो दूर रहा, परम-प्रलय भी नहीं है, अर्थात् इतना भी नहीं है कि एक साथ ही समस्त ब्रह्मांडमंडलका विनाश हो।

तो क्या विज्ञानकी दृष्टिमें परम-प्रलय हो नहीं सकता ? इस प्रश्नपर वैज्ञानिकोंमें अभी मतभेद है। प्रमुख वैज्ञानिकोंका यह अनुमान है कि ऐसा परम-प्रलय नितान्त असंभव नहीं है। समस्त जगत् आकाशतत्वमें स्थान स्थानपर शक्तिके एकत्रीकरणसे स्थित है। एक ही बड़े तरंग-परिवर्त्तनमें एक साथ ही समस्त जगतमें परिवर्त्तन होना संभव है। परन्तु इस कल्पनाके पोषकोंकी संख्या अभी थोड़ी ही है।

अबतक सृष्टिपर जो विचार हम कर चुके हैं उससे यह कहना असंभव है कि जगत्का आरंभ कब हुआ और अन्त कब होगा।

जितना ही इस प्रश्नको सुलझाने बैठते हैं उतना ही उलझता जाता है। कार्य्यकारणका सिलसिला द्रौपदीकी चीरकी तरह बढता ही जाता है और वैज्ञानिक अनुभव तथा अनुमानका दुःशासन थककर रह जाता है। यही अन्तमें कहना पडता है कि या तो संसार वा जगत् अनादि अनन्त ही है, अथवा बौद्धोंके अनुसार क्षणिक ही है, केवल हमारी इन्द्रियोंका ही विकार है।

हम कालपर पहले ही विचार कर आये हैं और कह चुके हैं कि कालका अनुमान कर्म्मसे ही होता है। गीताका श्लोक-

"न तु कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः" ५।३

अर्थात् कोई एक क्षण भी विना कर्म किये नहीं रह सकता, प्रकृतिके गुण लाचार करके कर्म कराते ही रहते हैं— काल और कर्मका अनिवार्य्य सम्बन्ध बताता है। जब कालका मान हम कर्म्मसे करते हैं और कर्म ही जगत् है तो यह प्रश्न कि जगत् कब उत्पन्न हुआ, दूसरे शब्दोंमें यों हो सकता है कि "कर्म्म कब उत्पन्न हुआ" बल्कि यों भी कि "काल कब उत्पन्न हुआ" वा "कालका आरंभ कबसे हुआ?" जो स्वयं अधिकारहीन प्रश्न है, इसका उत्तर स्वयं अपना खंडन करता है, और हम दिखा भी चुके हैं कि या तो काल अनादि अनन्त है या उसका अत्यन्ताभाव ही है, सो इस प्रश्नका उत्तर देना कालकी सीमा नियत करके उसे साद्यन्त बनाना है। जगत्की सत्तामें यदि कोई सन्देह नहीं तो उसके सतत परिवर्त्तनशील

होनेमें किसीको कुछ शंका नहीं हो सकती, पर कबसे हुआ कबतक रहेगा यह प्रश्न अनधिकार चर्चा है-क्योंकि इसका साधन उपलब्ध नहीं है।

अनेक दार्शनिकोंको जगत्‌की सत्तामें ही सन्देह है। पाश्चात्य दार्शनिकोंमें बार्कले आदि जगत्‌की सत्ता ही नहीं मानते। अपने यहां "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" इसी अर्थमें सर्व-साधारणमें समझा जाता है, पर भारतीय शास्त्रोंमें जगत् जिस अर्थमें आता है उसकी चर्चा हम कर चुके हैं, नित्य परिवर्त्तन होते रहनेके कारण दृश्य जगत् को क्षणिक अनित्य वा उसका अभाव मानें तो कुछ भी बेजा नहीं क्योंकि जिस वास्तविक सत्ताके अधिष्ठानसे, जिस असली चीजके सहारे यह सब परिवर्त्तन-शील जगत् दीखता है उसकी सत्तासे किसीको इनकार नहीं, चाहे उसे प्रकृति कहिए चाहे ब्रह्म। परन्तु यह वास्तवमें वस्तुकी सत्तापर विचार हुआ अतः इसकी चर्चा अगले प्रकरणमें की गयी है।

चौथा प्रकरण

वस्तुकी सत्ता

वाह्य-और अन्तःकरण, ज्ञाता ज्ञेय और द्रष्टा दृश्य—कान, त्वचा, आंख, जिह्वा, नाक मन सबकी परखकी सीमा थोड़ी और परिमित है—प्रत्येककी परीक्षा—मेरी और वाह्यजगत्‌की दोनोंकी सत्ता है—आकाश-महार्णवमें वस्तुकी स्थिति—आठ तल, आठ इन्द्रियां और आठ ही विषय—विश्व तैजस और प्राज्ञके अनुभव—सपने और जागृतिसे तुलना—वस्तुकी सत्तामें सन्देह नहीं है।

देश और कालके विचारमें हम यह दिखला चुके हैं कि जो कुछ परीक्षा हम वाह्य विषयोंकी करते हैं, अपनेसे अतिरिक्त अन्य जो कुछ हम जानते हैं, सबका साधन हमारी इन्द्रियां हैं। इन्द्रियोंको करण अथवा हथियार वा औजार कहते हैं। हमारे बाहरी औजार पांच ज्ञानके और पांच कर्मके कहे जाते हैं और भीतरी औजार वा अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारोंको कहते हैं। सारांश यह कि अपनेसे पृथक् पदार्थोंका ज्ञान हमको पांचों ज्ञानेन्द्रियोंसे जो वाह्यकरण हैं और मनसे जो अन्तःकरण है प्राप्त होता है। ज्ञानकी दृष्टिसे जो वस्तु जानी जाती है उसको ज्ञेय कहते हैं और जाननेवालेको ज्ञाता कहते हैं। देखनेके विचारसे देखी जानेवाली वस्तुको दृश्य कहते हैं और देखने वालेको द्रष्टा वा साक्षी कहते हैं। इस जागृत जगत्‌में जानने-वाला और देखनेवाला मैं हूं और जानी हुई वा देखी हुई

मेरे सिवा सभी वस्तुएं हैं। इसे साधारण भाषामें हम अपना आपा और संस्कृतमें आत्मा कहते हैं। जो पदार्थ आत्मासे भिन्न है उसे इसीलिए अनात्म कहते हैं। जिन वस्तुओंको साक्षी देखता है और ज्ञाता जानता है उन सभी वस्तुओंको अपने आपेसे भिन्न जानता ही है। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय, साक्षी और दृश्य, दोका होना सहज ही मानना पड़ता है।

इस लेखमें हम यही विचार करेंगे कि अनात्मकी—साधारणतया जिसे हम वस्तु कहते हैं उसकी—सत्ताका हमको कितना ज्ञान है। इस सम्बन्धमें विचार करते हुए हमें अपने औजारोंकी परीक्षा बहुत आवश्यक जान पड़ती है। हम जिन साधनोंसे वस्तुको परखते पहचानते हैं, जिन यन्त्रोंके सहारे देखने और जाननेका काम लेते हैं, वह औजार और वह यन्त्र कहांतक हमारी सहायता कर सकते हैं और वह साधन हमारे लिए कहांतक विश्वासयोग्य हैं। हम एक एक इन्द्रियका इस प्रकार अलग अलग विचार करेंगे।

शब्दोंके सुननेका साधन हमारे कानोंका नाड़ीजाल है। बाह्यजगत्में जो कम्पन उत्पन्न होते हैं भिन्न भिन्न प्रकारके हैं और उनकी गति भी भिन्न भिन्न वेगकी है। एक पदार्थमें कम्पन वा स्फुरण होनेसे उसके निकटवर्ती पदार्थमें भी कम्पन वा स्फुरण होने लगता है। निकटवर्ती पदार्थके अनुकूल होनेपर यह स्फुरण उसी प्रकारका होता है और उदासीन वा प्रतिकूल होनेपर प्रकारमें अन्तर पड़ जाता है। जो हो इस स्फुरणका प्रभाव जब हमारे कानके परदेपर पड़ता है तब हम शब्दका अनुभव करते हैं, चाहे इस स्फुरणका द्वारा वायु हो वा अन्य कोई पदार्थ। यह बात भी परीक्षाद्वारा

सिद्ध है कि एक सेकण्डमें तेतीस स्फुरणसे लेकर चालीस हजार स्फुरणतकका प्रभाव साधारण मनुष्यके कानके परदे पर पड़नेसे शब्दका अनुभव होता है। स्फुरणका वेग इससे कमवेश हो तो शब्दका अनुभव नहीं होता। साधारण घड़घड़ आदि मिलेजुले गड़बड़ शब्दोंसे लेकर मृदंग वीणा आदि मधुर बाजोंके शब्द और बालकों वा स्त्रियोंका तारस्वरमें मनोहर गान इन्हीं स्फुरणोंके अन्तर्गत है। केवल कानोंके सहारे हम शब्द शब्दमें भेद अनुभव कर सकते हैं। जिनके कान बहुत बारीक भेदोंका अनुभव कर सकते हैं, ऊंचे नीचे द्रुत अनुद्रुत आदि स्वरों और मीड़ों और ग्रामोंके भेद केवल कानके सहारे बता सकते हैं। परन्तु यह बताना कि अमुक शब्द मृदंगका है और अमुक वीणाका, अमुक मनुष्यका आलाप है और अमुक हारमोनियमका है, केवल कानोंका काम नहीं है। इन शब्दोंके स्वर-यन्त्रोंकी जानकारी हमको और इन्द्रियोंके सहारे होती है। साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि बाह्य पदार्थोंमें तेंतीस प्रति सेकण्डसे कमके स्फुरण भी होते रहते हैं और चालीस हजार प्रतिसेकण्डसे अधिकके भी। यह सब स्फुरण यदि हमारे कानके परदोंपर प्रभाव डाले और शब्द होकर सुनाई पड़े तो इतना शोरगुल हो कि हम बड़ी मुसीबतमें पड़ जायँ। ही यह भी न भूलना चाहिये कि इस प्रकारके स्फुरण ज्यों ज्यों दूर जाते हैं मन्द होते जाते हैं। इसी कारण बहुत दूरके शब्द भी हम नहीं सुन सकते। या यों कहिये कि बहुत दूरके स्फुरणोंका प्रभाव हमारे कानोंपर नहीं पड़ता। सारांश यह कि हमारी सुननेकी इन्द्रिय परिच्छिन्न है। उसकी शक्ति सीमाबद्ध है। उसकी ताकत महदूद है। बाहरी यन्त्र

बनाकर हम कानकी शक्ति कितनी ही बढ़ाएँ परन्तु यह कहनेके लिए हम अभी तैयार नहीं हैं कि इन बाहरी यन्त्रोंके सहारे भी हम अपनी कर्णेन्द्रियको अपरिच्छिन्न उसकी शक्तिको असीम, अपरिमित और अपार, उसकी ताकतको गैर महदूद बना सकेंगे। एक ही प्रकारके स्फुरणका प्रभाव कानोंकी विभिन्न रचनाके कारण भिन्न भिन्न प्राणियोंपर विविध रीतिसे पड़ सकता है और यह सम्भव है कि एक प्राणी किसी विशेष प्रकारके स्फुरणसे एक तरहका शब्द अनुभव करे, दूसरा दूसरी तरहका और तीसरा कुछ भी अनुभव न कर सके। इस प्रकार हमारे कानोंकी गवाही घंटेके शब्द होने न होने वा उसके तांबे पीतल या फूलके बने होने वा उसे लकड़ीसे या किसी धातुसे बजाये जाने या उसके दूर वा निकट बजने अथवा किसी विशेष प्रकारसे बजनेके लिए भी न तो काफ़ी हो सकती है और न किसी तथ्यका प्रतिपादन कर सकती है।

स्पर्शसे अथवा छूकर हम ठण्डे या गरम, कड़े या नरमकी पहचान करते हैं। हमारी त्वचाका नाड़ीजाल जिन वस्तुओंके पास होता है, उन वस्तुओंसे एक प्रकारका स्फुरण वा कम्पन लेकर हमारे चित्तदेवताको पहुंचाता है। फिर बुद्धिसे हम यह विवेचन करते हैं कि यह स्फुरण किसी दूसरे स्फुरणकी अपेक्षा ठण्डा वा गरम, कड़ा वा नरम है या नहीं। हमारा शरीर स्वयं एक विशेष गरमी रखता है, जिसमें कुछ थोड़ी बहुत कमीबेशी होती रहती है। शरीरके अंग अंगमें नरमी और कड़ाईका तारतम्य है पर इस तारतम्यकी सीमा भी संकुचित ही है। तात्पर्य्य यह कि हमारे शरीरके अंग अंग थोड़े बहुत कड़े

नरम, ठण्डे गरम हैं ही, और त्वचा सारे शरीरमें फैली हुई है। किसी किसी स्थानपर छूकर जाननेकी शक्ति बहुत तीव्र है, और रीढ़के पास पीठमें यह शक्ति बहुत कम है। एक बारीक परकारके दोनों भुजोंको मोड़कर इकट्ठा कीजिये कि दोनों नोकोंके बीच अत्यन्त कम अन्तर रह जाय और इन दोनों नोकोंको अंगुलीके सिरोंपर रखिये तो दो नोक अलग अलग प्रतीत होंगे और पीठपर लगाइये तो एक ही नोकका अनुभव होगा। नरमी और कड़ाई आपेक्षिक हैं। छूनेवाले अंगकी अपेक्षा जो वस्तु नरम होती है प्राय. उसे नरम और जो कडी होती है प्रायः उसे कडी कहते हैं। अनेक वस्तुओंको इसी प्रकार छूकर उनमें परस्पर नरमी और कड़ाईका अनुमान करते हैं। परन्तु यह पहचान एक हदतक ही हो सकती है। लोहे और सोनेकी आपेक्षिक नरमी या कड़ाईकी पहचान हम छूकर नहीं कर सकते। सोना लोहेको खरोंच सकता है अथवा लोहा सोनेको खरोंच सकता है, यह एक कर्मेन्द्रिय और दूसरी चक्षुरिन्द्रिय दोनोंके सहारे हम जान सकते हैं और बुद्धिद्वारा यह निश्चय कर सकते हैं कि सोना लोहेकी अपेक्षा नरम है। इसी प्रकार ठण्डा और गरम अनुभव करनेके लिए भी हमारी त्वचाकी क्रिया एक हदतक ही काम दे सकती है और त्वचाके अनुभवकी सापेक्षताके कारण हमको धोखा भी हो सकता है। तीन गिलास लीजिये। एकमें बहुत गरम, दूसरेमें साधारण कुएंका पानी और तीसरेमें बरफ़का पानी रखिये। बरफ़वाले पानीमें हाथ डालकर कुएं-वाले पानीमें हाथ डालनेसे कुएका पानी गरम प्रतीत होगा और जलते हुए पानीमें हाथ डालकर, कुएंवाले पानीमें हाथ डालनेसे कुएंका पानी बहुत ठण्डा लगेगा। स्पष्ट है कि जल

एक ही है और एक ही दशामें है, परन्तु हमारी त्वचाकी भिन्न दशाके कारण भिन्न प्रतीत होता है। जाड़ोंमें और गरमियोंमें कुएंके जलमें जो भेद देखनेमें आता है उसका कारण यही है। गरमी और ठण्डक भी एक हदतक ही हम अनुभव करते हैं। अत्यन्त ठण्डा और अत्यन्त गरम दोनोंसे ही हमारी स्पर्श नाड़ियां स्तब्ध हो जाती हैं और जल जाती हैं और अनुभव करनेकी क्षमता नष्ट हो जाती है। ऐसी दशामें हम अन्य यन्त्रोंका सहारा लेते हैं। हम जानते हैं कि गरमीसे वस्तुओंका प्रसार और ठण्डसे सङ्कोच होता है। इस प्रसार और संकोचके तारतम्यका विचार करके हम गरमीका तारतम्य जान सकते हैं। तापमापक यन्त्र प्रायः इसी सिद्धान्तपर बनते हैं। इनमें तीसरी इन्द्रिय बुद्धि निश्चय करती है कि किसमें ताप अधिक है और किसमें कम। ताप सूर्य्यमें अधिक है अथवा लुब्धक तारेमें—वस्तुतः यह ज्ञान हमारी त्वचाकी गतिसे बाहर है, परन्तु यन्त्रोंसे और बुद्धिसे ग्राह्य है। निदान त्वचाका व्यापार सीमाबद्ध है। स्पर्शशक्ति परिच्छिन्न है और दूसरी इन्द्रियोंसे इसका अन्योन्याश्रय है।

यदि नरमी और कड़ाईकी जांचमें वर्तमान सापेक्षताके बदले हमारी शक्ति इतनी अपरिमित होती कि आकाश जैसे सूक्ष्म पदार्थका भी स्पर्श कर लेते और हीरा और ईस्पातकी पारस्परिक नरमी और कड़ाईका भी अनुभव कर लेते और ठोस उज्जनकी ठण्डक और सूर्य्य जैसे उत्तप्त पिण्डकी गरमी अपनी त्वचासे जान सकते तो हमको संसारमें रहनेमें कितनी कठिनाइयां होतीं, क्या क्या मुसीबतें आ जातीं, यह पूर्णतया हमारी कल्पनामें नहीं आ सकता। जिस त्वचासे हम हीरेकी कड़ाईका अनुभव कर लेते, उससे हम साधारण ईंट

पत्थरकी भीत सहज ही खोद सकते। लकड़ी हमारे लिए अत्यन्त नरम हो जाती। जल आदि द्रव पदार्थका तो पता ही क्या होता। आकाशतकको स्पर्श करके जान लेनेकी शक्ति होती तो इसकी उलटी दशा हो जाती। जल हमको हीरेसे भी अधिक कड़ा प्रतीत होता। रोटी आदि स्थूल वस्तुओंका तो कहना ही क्या है? इन दोनों दशाओंमें हमारा सांसारिक जीवन और तरहका होता। वर्तमान सांसारिक जीवनमें त्वचाकी परिच्छिन्न शक्ति ही हमारे लिए अनुकूल है। जो कुछ हो स्पर्शेन्द्रियकी गवाही केवल इतनी हीं बातके लिये है कि वाह्यवस्तुका संबंध हमारे शरीरसे किस तारतम्यका है। हमारे शरीरकी अपेक्षा वाह्यवस्तु कितनी कड़ी या नरम और ठण्डी या गरम है। यह जान लेनेसे हमको वस्तुकी वास्तविक स्थितिका पता नहीं लगता। हमारी त्वचाकी गवाही हमारे शरीरसे सापेक्ष है और परम सत्य और नित्य नहीं है।

आकाशमें स्वभावसे ही अनेक प्रकारके और भिन्न भिन्न वेगके कम्पन या स्फुरण होते रहते हैं। इन स्फुरणोंमेंसे कुछ ही हमारी आंखोंके नाडी-जालपर प्रकाशका अनुभव कराते हैं। जिसे हम सूर्य्यका प्रकाश कहते हैं वह सूर्यके पिण्डसे निकली हुई आकाशकी लहरें हैं, जो पृथ्वीतक आती हैं और बाह्यवस्तुओंपर पड़कर हमारी आंखके पर्देपर अपना प्रभाव डालती हैं। जो किरणें वस्तुओंमें समा जाती हैं उनका प्रभाव हमारी आखोंपर नहीं पड़ता। जहां सभी किरणें समा गयी हैं वहां घोर काला या अन्धकार दिखाई देता है। जहां सभी किरणें लौटकर हमारी आँखके परदेपर प्रभाव डालती हैं हमें सफेद दिखाई पड़ता है। हमें सफेद और कालेके बीचमें विविध किरणोंके मिलनेसे विविध रङ्गोंका भान होता

है। हम अपने सामने नीले रङ्गसे रङ्गी हुई भीत देखते हैं। उसमें वास्तविकता यह है कि सूर्य्यकी और किरणें भीतमें समा जाती हैं; केवल नीली किरणें हमारी आँखोंकी ओर लौटती हैं। साधारण मनुष्यकी आंखें बैंगनीसे लेकर लाल रङ्गोंकी किरणोंतक अनुभव कर लेती हैं। लाल या बैंगनीके बाहरकी किरणोंका भिड़ आदि कई मनुष्येतर प्राणी अनुभव कर सकते हैं। साधारणतया यह बात सबको मालूम है कि जो हमारे लिए अँधेरा है उसमें भी अनेक प्राणी प्रकाशका अनुभव करते हैं। वैज्ञानिकोंने तो यह सिद्ध किया है कि सारे विश्वमें प्रकाशही प्रकाश है, अन्धकार तो त्रिकालमें कभी हुआ ही नहीं। अपने न देख सकनेको ही हम अन्धकार कहते हैं। जिन आकाशके तरंगोंसे बैंगनी और लाल रङ्गोंके बाहरकी किरणोंका आविर्भाव होता है निरन्तर विद्यमान हैं पर हम अनुभव नहीं कर सकते। प्रसिद्ध एक्स किरणोंको सब लोग जानते हैं कि बहुधा अपारदर्शी वस्तुओंको पारदर्शक कर देती हैं। थोड़ी देरके लिए मान लीजिये हमारी आँखोंमें एक्स किरणोंकी शक्ति आ गयी और बहुत से ठोस पदार्थ हमारे लिए पारदर्शी हो गये या यों समझिये कि जो किरणें भीतके आरपार आ जा सकती हैं उनका प्रभाव हमारी आँखके परदोंपर पड़ने लगा। ऐसी दशामें हमारी वही गति होगी जो मय-दानवद्वारा रची हुई सभामें दुर्योधनकी हुई थी। भीत न देख सकनेके कारण हम ठोकरें खायेंगे और हमारी जीवन-यात्रा असम्भव हो जायगी। किरणोंके ठीक ठीक प्रतिफलित होनेके लिये हमारी आंखका यन्त्र एक विशेष रीतिसे बना है। उसकी बनावटपर किरणोंका ठीक रूप दरसाना निर्भर है। ऐसा न हो तो तुमाइशोंमें जो दीवारकहकहा बनाते हैं उसकी दशा

हो जाय। दर्पणका धरातल यदि विषम हो तो देखनेवालेका अंग प्रत्यंग ऐसा विकृत दिखाई पड़ेगा कि हँसते हँसते पेटमें बलपड पड़जायँगे और यदि दर्पण कहीं बीचसे ऐसा टूट गया कि केन्द्रसे अनेक खण्ड हो गये और खण्ड अभी ज्योंकेत्यों लगे हुए हैं तो 'सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्षः सहस्रपात्' का दृश्य आंखके सामने आ जायगा। बाजारमें टके दो टकेका खिलौना जो दूरबीनके नामसे बिकता है और जिसे अङ्गरेजीमें कैलि-डास्कोप कहते हैं और हिन्दीमें बहुरूपदर्शक या बहुरूपिया कह सकते हैं तीन या दो कांचके खड़े टुकड़ों को ६०° अंशके कोणमें लगाकर एक नलीमें बन्द कर देनेसे बनता है। पानीमें सीधी खडी लकड़ी डालिये तो धरातलपरसे टूटी हुई या मुड़ी हुई दीखती है। देखनेमें लम्बाईमें भी कमी आ जाती है। इसे प्रकाशका ओटन कहते हैं। मृगतृष्णाका कारण भी इन्हीं किरणोंके द्वारा उत्पन्न दृष्टि-विपर्य्यय है। कहांतक कहें सारे विश्वका दृश्य इन्हीं किरणोंका कौतुक है, जिन्होंने सत्ता-को छिपा रखा है, असलियतपर परदा डाल रखा है। मनको मिलाकर बाह्यज्ञानकी कुल छः इन्द्रियां हैं। परन्तु ज्ञान-शक्तिकी तुलना की जाय तो इसमें नव भाग आंखके हैं और एक भागमें शेष पांच इन्द्रियोंके व्यापार हैं। आंखका काम इतने महत्वका होते हुए भी हम इस बातको दिखा आये हैं कि इसकी शक्ति कितनी परिच्छिन्न है और इसकी गवाही वास्तविक सत्ताके लिये कितनी कम विश्वस्य और बलहीन है।

जिह्वासे हमको रसोंका ज्ञान होता है और छः रसोंमें हम जिह्वासे ही भेद बता सकते हैं। परन्तु यह बात सबको मालूम है कि अनेक रसोंका प्रभाव हमारी रसनाके नाड़ी-जालपर ऐसा अनिष्ट हो सकता है कि इसकी नाड़ियां स्वयम्

निकम्मी और निश्चेष्ट हो जायँ। बचपनमें बहुत तीखे रसोंका आस्वादन जबतक नहीं हुआ है तबतक रसनाके नाड़ीजालकी दशा कुछ और होती है। बड़े होनेपर जब तीखे कड़वे कसैले पदार्थोंका सेवन मनुष्य करने लगता है उसकी नाड़ियां कुछ और ढंग पकड़ लेती हैं। एक ही पदार्थ किसी-को बहुत नमकीन और किसीको कम नमकीन लगता है। खट्टे तीते कड़वे स्वादकी भी यही दशा है। स्पष्ट है कि घोड़ेको घासमें जितना स्वाद मिलता होगा मनुष्यको उसका पता नहीं है। जितने प्राणी हैं सबकी रुचि और आवश्य-कताएँ भिन्न हैं। इसीलिए स्वादमें भेद होना भी आवश्यक है। एक ही पदार्थमें भिन्न प्राणियोंके लिए भिन्न स्वादका होना स्पष्ट है। इसलिए यह भी स्पष्ट है कि वस्तुके गुणोंके विचारमें हमारी रसनाकी गवाही परम सत्य और नित्य नहीं है।

गन्धकी दशा भी रसकी सी है। गन्धका अनुभव तो, मनुष्य प्राणीको इतना कम होता है कि उसपर विशेष विस्तार हो नहीं सकता। जो पदार्थ वायव्यरूपमें होकर हमारी गन्धकी नाडियोंतक पहुँचते हैं, उनमेंसे अनेक गन्धहीन प्रतीत होते हैं और उनसे हमारी बुद्धिको पदार्थविवेचनमें कोई सहायता नहीं मिलती। परन्तु जो पदार्थ गन्धमय हैं उनका अनुभव भी भिन्न प्राणियोंको भिन्न रीतिसे होता है। तात्पर्य्य यह कि जिस प्राणीको जो गन्ध हितकर है वही प्रायः रुचिकर भी है। जो स्वाद जिस प्राणीको हितकर है वही स्वाद प्रायः रुचिकर भी है। रस और गन्धकी विवेचनामें व्यक्ति समीकरण ऐसा घनिष्ठ है कि वस्तुके विषयमें इन दो साधनोंद्वारा मनुष्यकी जानकारी अत्यन्त परिच्छिन्न हो जाती

है। इसीलिए रसना और घ्राण दोनोंकी गवाही वस्तुके गुणों-के विषयमें परम सत्य और नित्य नहीं है।

औजार चाहे जैसा हो अपने विशेष प्रयोजनके लिए ही बनता है और उससे वही काम लिया जा सकता है। जिस प्रकार बसूलेसे पछोरना, आँखसे स्वादको छूना या नाकसे शब्दको देखना या कानसे रूपको सूँघना अघटित, अयुक्त, असंगत और असंभव है, उसी तरह इन्द्रियोंद्वारा वस्तुका वास्तविक ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। बात यह है कि इन्द्रियाँ इसलिए नहीं बनीं कि हम वस्तुकी वास्तविकताको जानें अथवा ब्रह्मकी सत्तापर विचार करें। इन्द्रियोंकी रचनाका प्रधान उद्देश्य यह जान पड़ता है कि हम जीवनयात्रा करते हुए निरन्तर उन्नति करते चलें और आत्मोन्नतिके लिए इस शरीरके होते हुए प्रयत्न करते रहें।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तथा दबाव—छहों विषयों-का आविर्भाव किस प्रकार होता है? इस शरीरके भीतर बैठे हुए चेतन अथवा अहन्ताकी सत्ताकी ही यह महिमा है। या यों कहिये कि मैं जो जाननेवाला और देखनेवाला हूँ इस शरीरकी ज्ञानेन्द्रियोंका अधिष्ठाता हूँ और उनके सारे अनु-भवोंका वैज्ञानिक रीतिसे संग्रह करके जाननेवाला या ज्ञाता हूँ। मेरे होनेमें अथवा मेरी सत्तामें मुझे सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और भार न तो मेरे गुण हैं और न इनकी स्थिति मेरे भीतर है। यदि इन विषयोंकी सत्ता केवल मेरे नाड़ीजालमें होती तो विषयके अनुभवोंमें निरन्तर समानता और एकता दिखाई पड़ती और जो कुछ मैं कल्पना कर लेता उसीके अनुसार अनुभव भी सम्भव होता, जैसे यदि मैं सामनेकी दीवारको कल्पना कर लेता कि

घोड़ा है और घोड़ा ही दीखने लगता, तो यह बात मानी जा सकती थी कि हमारे अनुभूत विषय हमारी ज्ञाननाडियोंके ही आश्रित हैं। किसी वाह्यसत्तासे उनका सम्बन्ध नहीं है। परन्तु तथ्य ऐसा नहीं है। हम कल्पनामात्रसे अपने सामनेकी दीवारको घोड़ा नहीं कर सकते। इसलिए यह आवश्यक है कि इन छः विषयोंका अनुभव जो हमें होता है उससे और वाह्यजगत्से अनिवार्य्य सम्बन्ध हो। सारांश यह कि सत्ता मेरी भी है और वाह्यजगत्की भी। न तो यह कहा जा सकता है कि मैं नहीं हूँ और न यह कहना सम्भव है कि वाह्यवस्तु नहीं है। परन्तु वाह्यवस्तु कैसी है, उसकी रचना किस प्रकार की है, उसकी वास्तविक सत्ताके विषयमें हम कितना जानते हैं, यह विचार केवल होने न होनेसे सम्बन्ध नहीं रखता। अपने समस्त वाह्य ऐन्द्रयिक अनुभवोंसे हम इतना ही जानते हैं कि हमारी सत्ता और वाह्यजगत्की सत्ता इन दोनोंके परस्पर और अन्योन्य प्रभावसे जो तथ्य उत्पन्न होता है उसीका नाम विषय है और छहों विषय मेरे और वाह्यवस्तु दोनोंके होनेके गवाह हैं।

वाह्यवस्तुके ऐसे गुण जो नित्य और स्थायी हैं और जिनसे हमारी इन्द्रियोंसे कोई सम्बन्ध नहीं अथवा जो गुण द्रष्टा वा ज्ञाताकी इन्द्रियोंके अधीन नहीं हैं उन गुणोंका प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञाता वा द्रष्टाके लिए असम्भव है। यह बात स्पष्ट ही है।

वाह्यवस्तुकी सत्ताके विषयमें हम अन्तःकरणोंके द्वारा कुछ अनुमानमात्र कर सकते हैं और यद्यपि हमारे अन्तःकरण भी शरीरयात्रामात्रके लिए उद्दिष्ट हैं तथापि यह हमारे बड़े पैने औजार हैं। इनसे हम प्रत्यक्ष ज्ञानका काम तो नहीं

से सकते, परन्तु अनुमानमें हम बन्द नहीं हैं और बात भी यही है कि जहां प्रत्यक्षानुभवके पैर लंगड़े हो जाते हैं अनुमानकी बैसाखी काम दे ही जाती है। बाह्यवस्तुके विषयमें अबतक जो कुछ अनुमान हुआ है वैज्ञानिकोंके पक्षसे नेति ही कहना पड़ता है। विज्ञानका एक पक्ष कहता है कि वस्तुमात्र आकाशतत्वके बड़े वेगसे स्फुरण करनेसे आविर्भूत होती है अर्थात् आकाशका विकार है। दूसरा पक्ष कहता है कि विश्वकी वास्तविक सत्ता ऐसे ठोस वस्तुकी है जो सीसेसे चार अरब गुना अधिक घनी है। इस घनत्वके भीतर अत्यन्त सूक्ष्म पोल हैं जिन्हें हम परमाणु कहते हैं और यह कल्पनातीत घन पदार्थ ऐसी तरल दशामें है कि तरलताके कारण ही इन पोलोंका स्फुरण निरन्तर होता रहता है। तीसरा पक्ष यह कहता है कि यह विश्व शक्तिका अपार सागर है, जिसमें शक्ति ही अपने गुणोंसे विविध वेगोंके स्फुरण और गतिकी दशाएँ वा भंवर बनाती है। यह भँवर ही सूक्ष्मसे सूक्ष्म परमाणु है। इन परमाणुओंकी उत्तरोत्तर स्थूलता और घनत्वसे हमें इस विश्वका अनुभव होता है। गीताके अनुसार प्रकृति आठ तरहकी है अर्थात् पांच महातत्व, मन, बुद्धि और अहंकार। तात्पर्य यह है कि मन, बुद्धि, अहंकारतक वस्तु हैं, अपने आपेसे भिन्न हैं वा अनात्म हैं। यदि परमाणुओंसे ही सबकी रचना मानी जाय तो आकाशके उपरान्त मन, बुद्धि और अहंकारके, परमाणुओंकी कल्पना भी की जा सकती है। अथवा यदि प्रोफेसर असबर्न रेनल्डका यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि जो कुछ हमें वस्तु सा प्रतीत होता है वह केवल प्रकृतिके भीतर पोल है तो उसके साथ साथ मन, बुद्धि, अहंकारको भी प्रकृतिकी

वास्तविक सत्ताके भीतर पोल मान लेनेमें कोई हानि नहीं दिखाई पड़ती। जिस तरह इस पोलवाले सिद्धान्तसे गुरुत्वाकर्षण, प्रकाशका वेग आदि प्रायः सभी प्राकृतिक तथ्योंकी पूरी पूरी व्याख्या हो जाती है, उसी तरह मन, बुद्धि, अहंकारके सम्बन्धमें जितनी कल्पनाएँ की जाती हैं सबकी व्याख्या इस पोलवाले सिद्धान्तसे हो सकती है। विज्ञानने अबतक, जितनी वस्तुएँ भारवती हैं उन्हींको वस्तु माना है और अबतक आकाश वा उसके सूक्ष्म तत्त्वोंको वस्तु माननेमें अनेक वैज्ञानिकोंको आपत्ति है। पर केवल गुरुत्वाकर्षण वा भारको ही वस्तुकी कसौटी बनाना हमारी रायमें युक्तिसंगत नहीं है। गुरुत्वाकर्षण स्थूल वस्तुका गुण है, सूक्ष्म वस्तुका नहीं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि स्थूल वस्तुओंमें जो स्थिति गुरुत्वाकर्षणकी है सूक्ष्म वस्तुओंमें वही स्थिति आकर्षण और अपक्षेपणकी है। इसी दृष्टिसे हमने आकाश, मन, बुद्धि और अहंकारको भी वस्तु शब्दके अन्तर्गत रखा है। पंच महातत्त्वोंके साथ मन, बुद्धि, अहंकारकी भी गिनती करके गीताने भी इन तीनोंको अनात्म ही माना है। इस तरह सूफ़ी लोग जिसे नफ़्स नातिक़ा कहते हैं और जिसे कबीरपन्थी और नानकपन्थी बोलता पुरुष कहते हैं वह वेदान्तकी जागृत अवस्थाका चेतन विश्व हुआ। इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चारों अन्तःकरणोंकी क्रिया बराबर होती रहती है। सपनेका देखनेवाला तैजस अपनेको सपनेके दृश्यसे अलग और देखनेवाला ही मानता है। परन्तु सपनेमें यदि यह ज्ञान हो जाय कि यह स्वप्नकी अवस्था है और मैं जो स्वप्नका देखनेवाला हूं जागृत अवस्थाका भी चेतन हूँ तो वस्तुतः स्वप्नावस्था नष्ट हो

जाती है और द्रष्टा यदि सपनेको देखता भी रहा तो वह सपना उसके लिए बायस्कोपकी तसवीरोंसे ज्यादा हैसियत नहीं रखता। सुषुप्ति अवस्थामें सुखका अनुभव करनेवाला प्राज्ञ अवश्य विद्यमान है, क्योंकि गहरी नींदके बाद उठनेपर मनुष्यकी जागृत अवस्थाका चेतन उस सुखानुभवको उसी तरह अपना किया हुआ स्वीकार करता है जिस तरह वह सपनेके सुख दुःखको स्वीकार किया करता है। परन्तु सुषुप्तिकी अवस्थामें वैसी सचेत दशा नहीं होती जैसी जाग्रत और स्वप्नमें होती है। जाग्रतमें मनुष्य अधिक सचेत होता है, स्वप्नमें कम, सुषुप्तिमें अत्यन्त कम और यदि गणितके उत्तरोत्तर घटनेवाले नियमके अनुकूल विचार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि तुरीयावस्था वा निर्विकल्प समाधिसे चेतनका कोई सरोकार ही नहीं है। अथवा यों समझना चाहिए कि हमारी सत्ता ऐसी अवस्थामें भी नष्ट नहीं होती जिस अवस्थामें चेतनका सर्वथा अभाव रहता है। सारांश यह कि चेतना भी स्वयं आत्मा नहीं है, वरन् आत्मा और अनात्माके संसर्गसे उद्भूत एक गुण है जो विशेष विशेष अवस्थाओंमें विशेष रूप और परिणाममें प्रकट होता है।

हमने पहले दिखाया है कि हमारी बाहरी और भीतरी इन्द्रियोंकी शक्ति परिच्छिन्न है और उनकी गवाही परम सत्य, नित्य और सर्वथा विश्वासयोग्य नहीं है। मन छठी इन्द्रिय है, जिसका कर्त्तव्य भार दबाव वा आकर्षण और अपक्षेपण आदिका अनुभव करना है। यहाँतक इसकी गणना बाह्य इन्द्रियोंमें हो सकती है। परन्तु स्वप्नावस्थामें जब बाह्यकरण शिथिल होते हैं यह इन्द्रिय बड़े जोरोंसे काम करती रहती

हैं और कभी कभी इतनी प्रबल हो जाती हैं कि मनुष्य सोते सोते उठ भागता है और स्वप्नावस्थामें भी कर्मेन्द्रियोंसे काम लेने लग जाता है। इसे निद्राभ्रमण या स्वप्नचार रोग कहते हैं। इस प्रकारके रोगी पाश्चात्य देशोंमें बहुतायतसे मिलते हैं। परन्तु स्वप्नमें उठ बैठना रोना, चिल्लाना और फिर सो जाना यह तो साधारण अनुभवकी बात है। जिस तरह कानके आँखके, त्वचा आदिके रोग हैं उसी तरह यह मनके रोग हैं। सारांश यह कि मन बाह्यकरण भी है और अन्तःकरण भी है। जैसे त्वचाके लिए सारे अंगमें फैले हुए नाड़ी जाल हैं वैसेही मनके लिए भी सारे शरीरमें नाड़ीजाल फैले हुए हैं। परन्तु मनकी गणना अन्तःकरणोंमें इसलिए होती है कि इस बाह्यकरणका व्यापार स्वप्नावस्थामें भी बिना किसी रुकावटके होता रहता है। बुद्धिका व्यापार इष्टानिष्टमें आवश्यक निश्चय अथवा द्वन्द्वोंमें विवेचन करना है और अहंकारका व्यापार द्रष्टा वा ज्ञाताकी हैसियतसे अपनी सत्ताका मानना है। मैं हूँ और मैं करता हूँ इस बातकी निष्ठा अहन्ताका व्यापार है। जिस तरह और ज्ञानेन्द्रियोंकी कचाई हम दिखा चुके हैं उसी तरह बुद्धि और अहंकारके व्यापारोंमें भी कचाई अथवा देश, काल और वस्तुके विचारसे तारतम्यका होना स्पष्ट ही है। अष्टधा प्रकृतिकी कल्पनामें तो पाँच तत्वोंके साथ मन बुद्धि और अहंकारको गिनाया है परन्तु हम इन्द्रियोंके नाते उन्हीं पाँचों तत्वोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पाँचों इन्द्रियोंके साथ मन, बुद्धि और अहंकारको गिनते आये हैं। बात यह है कि मनुष्यके शरीरमें इन बाहरी प्रकृतियों या तत्वोंके प्रतिनिधि हमारी यह आठों ज्ञानेन्द्रियां हैं अर्थात् कान, त्वचा, आँख, जिह्वा और घ्राण तथा मन, बुद्धि और

अहंकार—इनके यह आठ विषय हुए—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मनन, विवेचना और अहंकरण।

ऊपर जिन आठों विषयोंतक हम विचार कर आये हैं, उन सबमें एक गुण समान रूपसे पाया जाता है, यद्यपि उसकी मात्रामें तारतम्य भी देखा जाता है। सुननेमें, छूनेमें, देखनेमें, चखनेमें, सूंघनेमें तथा मनन, विवेचन और अहंकरण-में भी बराबर एक दूसरेसे सम्बन्धको समझकर याद रखना जारी रहता है। हमारे पास अनुभवोंको इकट्ठा करके रख छोड़नेका खजाना है और वह खजाना ऐसा है कि उससे ज्ञानकी सम्पत्ति सारे शरीरदेशमें बढ़ती रहती है और बहुतेरी स्वभावमें भी परिणत हो जाती है। इस अद्भुत और समान भावसे व्यापक गुणको हम चेतना कह सकते हैं जो फिर भी आत्म और अनात्मके संसर्गका फल ही जान पड़ती है, क्योंकि अनात्मका संसर्ग जहां सर्वथा नहीं है वहां चेतनाके भी दर्शन नहीं होते।

हमने अबतक आठ ज्ञानेन्द्रियों और उनके आठ विषयों-पर और साथ ही बाह्यवस्तु तथा उसके अनुभवोंपर विचार करके यह दिखलाया है कि वस्तुकी सत्तामें यद्यपि लेशमात्र सन्देह नहीं है, तथापि अपनी इन्द्रियोंकी गवाहीसे जो कुछ विविध नाम और रूप हमने निश्चित किये हैं वह अनित्य और मिथ्या है और उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। अब रही यह बात कि जब वस्तुकी सत्तामें तनिक भी सन्देह नहीं है और अपनी अथवा आत्मसत्तामें भी कोई शुबहा नहीं है तो क्या आत्म और अनात्म यह दो अलग अलग सत्ताएं हैं, अथवा दो-से भी अधिक सत्ताएँ हैं या एकही सत्ता है, परन्तु दो मालूम होती है? इस बातपर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

पांचवां प्रकरण

आत्म और अनात्म

जाननेकी क्रिया समस्त इन्द्रियोंमें व्यापक है—अनात्म एक है वा अनेक ?—एकता और भेदके समीकरण ?—आत्मा एक ही है वा अनेक ?—आत्मा और अनात्मकी अलग अलग सत्ता है वा दोनों एक ही हैं ?—अवस्थाभेदसे चेतनमें भेद—विज्ञात और अविज्ञात कर्म—जीव और देह दोनोंहीका नियामक अन्तरात्मा है—चेतन और आत्माका भेद—समुद्र और तरंगकी उपमा सयुक्तिक है—बल्कि उपमा नहीं वास्तविक तथ्य है—अभिन्न-निमित्तोपादानकारण।

वस्तुकी सत्तापर विचार करते हुए हम दृश्य और द्रष्टाकी परिभाषा समझा चुके हैं। यह भी हमने दिखाया है कि सामान्य रीतिसे जिसे हम चेतना कहते हैं वह समस्त इन्द्रियोंमें व्यापक है। यद्यपि बहुतसे लोग उसे साधारणतः आत्मा ही समझते हैं, तथापि हमने यह भी दिखाया है कि चेतना केवल अपने आपेका रूप नहीं है, बल्कि बाह्यवस्तु और आत्मसत्ता दोनोंके संसर्गका फल है। बल्कि यों कहना भी ठीक होगा कि जाननेकी क्रिया जो समस्त ज्ञानेन्द्रियोंमें मणिमालाके भीतर पिरोये हुए सूतकी तरह फैली हुई है इसी चेतनाका आविर्भाव है और यह चेतना यद्यपि बाह्यवस्तुसे सम्बन्ध रखती है तथापि इसे यदि हम स्वतः जीव अथवा आत्माका अंश कहें तो अनुचित न होगा। किसी किसी पक्षके वेदान्तियोंने जीवको आत्माका अंश कहा भी है। जिस तरह घड़ेके भीतरवाला आकाश घटाकाश और मठके भीतरवाला आकाश मठाकाश कहलाता है—यद्यपि आकाश आकाशमें कोई

भेद नहीं है, आकाश वस्तुतः एक सर्वत्र ओतप्रोत भावसे व्यापक पदार्थ है उसी तरह आत्माकी सत्ता एक ही है, परन्तु अनेक शरीरोंमें इन्द्रियोंके द्वारा परिच्छिन्न होनेके कारण अलग अलग जीव माना जाता है और अनुभव भी अलग अलग ही होता है। यदि हम इस व्याख्याको मान लें तो यों कह सकते हैं कि जीव वा चेतनाकी सत्ता यद्यपि आत्माकी सत्तासे सर्वथा भिन्न नहीं है तथापि बाह्यवस्तुकी सत्ताके संसर्गसे सविकार है। वा यों भी हम कह सकते हैं कि जैसे यह शरीर भिन्न भिन्न तत्त्वोंसे बना हुआ है उसी तरह जीव भी आत्म और अनात्म इन दो तत्त्वोंकी सम्मिलित दशा है। यहाँतक हम आत्म और अनात्म, द्रष्टा और दृश्य इन दोनोंको अलग अलग मानते आये हैं, इसीलिए जीवकी परिभाषा भी हमने इसी मन्तव्यके अनुसार की है। परन्तु अब हम इस प्रश्नपर विचार करेंगे कि—(१) जिसे हम अनात्म कहते हैं वह एक ही सत्ता है अथवा भिन्न भिन्न कई सत्ताएँ हैं, (२) आत्माकी एक ही सत्ता है अथवा अनेक, (३) आत्म और अनात्मकी अलग अलग सत्ता है अथवा एक है।

जिसे हम अनात्म कहते हैं वह एक ही सत्ता है अथवा भिन्न भिन्न कई सत्ताएँ हैं?

वस्तुकी सत्तापर विचार करते हुए हम यह दिखा आये हैं कि हमारी इन्द्रियोंकी गवाही वस्तुके विषयमें परिच्छिन्न है। जो कुछ हम जानते हैं वह वस्तुके गुण हैं और इन गुणोंका आविर्भाव हमारी आत्मसत्ताके संसर्गसे अथवा क्रियाप्रक्रियासे होता है। कमलके फूलमें उसका रंग, कोमलता और उसकी पंखड़ियोंका आकार आदि कमलके गुण हुए। यदि वस्तु सत्ताको हम न मानें और कमलके समस्त गुणोंको क तो

कमलका सगुण रूप हमारे लिए क + व हुआ। कमलसे भिन्न यदि हम खड़िया मिट्टी ले लें तो खड़िया मिट्टीके गुण हम कमलसे भिन्न पाएँगे। परन्तु वस्तुकी सत्ता एक ही मानते हुए यदि हम वस्तुको फिर व कहें और खड़ियाके भिन्न गुणोंके समूहको ख तो खड़ियाका सगुण रूप हमारे लिए ख + व हुआ। इसी रीतिसे गंधकके भिन्न गुणोंके लिये ग मान लें तो गंधकका सगुण रूप ग + व हुआ। इन तीनों उदाहरणों अर्थात् क + व = कमल, ख + व = खड़िया मिट्टी, ग + व = गंधक इन समीकरणोंमें हमने वस्तुकी वास्तविक सत्ताको एक ही माना है, क्योंकि समस्त गुणोंसे परे, गुणातीत और परम सत्ता एक ही हो सकती है। हम दो पदार्थोंमें भेद कैसे करते हैं और उन्हें कैसे पहचानते हैं? उनके गुणोंके भेदसे। शब्दमें, स्पर्शमें, रूपमें, रसमें, गन्धमें, भारमें हम भेद देखकर ही पदार्थ पदार्थमें भिन्न भिन्न गुणसमूहोंकी कल्पना करते हैं और अन्तर समझते हैं। यह सब गुण इन्द्रियोंके विषय हैं। इन्द्रियके विषय आत्म और अनात्मके संसर्गसे, उन दोनोंकी पारस्परिक क्रियाप्रक्रियासे, प्रकट होते हैं और गुणोंमें भेद होनेका कारण इस प्रक्रियामें वा संसर्गमें न्यूनाधिक्य और तारतम्य ही है। यदि हम थोड़ी देरके लिये यह भी मान लें कि भिन्न भिन्न वस्तुओंकी सत्ता भिन्न भिन्न है तो हमको अफलातूनकी तरह मानना पड़ेगा कि वास्तविक सत्ता भी अनेक प्रकारकी है। अच्छा, अब यह सोचना चाहिये कि हम दो वस्तुओंमें भेद कैसे समझते हैं? गुणोंके भेदसे। यदि हम भिन्न भिन्न गुणातीत सत्ताएँ मानें तो हमको भिन्न भिन्न सत्ताओंमें अन्तर समझनेके लिए भिन्न गुणोंका आरोपण करना होगा। परन्तु यह कैसे हो सकता है, क्योंकि सत्ताओंको गुणातीत अर्थात्

गुणोंसे परे तो हम पहले ही मान चुके है और गुणोंका भाव और अभाव एक ही देश और कालमें होना असम्भव कल्पना है। यही बात है कि हम वस्तुसत्ताको एक ही गुणातीत पदार्थ माने बिना नहीं रह सकते। अर्थात् यदि ऊपरवाले समीकरणोंमें प्रत्येक दशामें हम वस्तुसत्ताको भिन्न मानें तो समीकरणोंका रूप यह होगा—

क + व′ = कमल

ख + व″ = खड़िया मिट्टी

ग + व‴ = गन्धक

इन समीकरणोंमें व′, व″ व‴ तीनों भिन्न भिन्न वस्तुसत्ताएँ हैं। पाठक देख सकते हैं कि इन्हें भिन्न माननेके लिए हमको तीन भिन्न भिन्न चिह्नोंका प्रयोग करना पड़ा है। तात्पर्य यह कि इन तीनोंमें परस्पर भेद समझनेके लिए हमको भिन्न भिन्न चिह्नोंका अर्थात् भिन्न भिन्न गुणोंका आरोप करना पड़ा है। अथवा पहले गुणातीत या गुणोंसे परे मानकर अब फिर उन्हें सगुण बनाना पड़ा है। और दोनों बातें एक साथ हो नहीं सकतीं इसलिए वस्तुकी भिन्न भिन्न सत्ताएँ मानना असंगत और अयुक्त है। निष्कर्ष यह कि जिसे हम अनात्म कहते हैं वह एक ही सत्ता है, भिन्न भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं।

आत्माकी एक ही सत्ता है अथवा अनेक ?

हम देखते हैं कि संसारमें चलनेफिरनेवाले और स्थिर रहनेवाले, चर और अचर, दोनों प्रकारके असंख्य जीव हैं। यदि एक द्रष्टा है तो दूसरा दृश्य है। दृश्यकी कोटिमें जीव या चेतन भी, जो अन्य शरीरोंमें है, सम्मिलित है। जीव

जीवमें और चेतन चेतनमें हम अन्तर देखते हैं। परन्तु इन भेदोंका कारण क्या है? वही गुण। गुणोंके भेदसे ही हम एक प्राणीके चेतनसे दूसरे प्राणीके चेतनमें अन्तर मानते हैं। वानर, हाथी, कुत्ता चाण्डाल और ब्राह्मण सबमें चेतनता है परन्तु गुणोंके कारण इनमें परस्पर अन्तर है। यदि हम उसी तर्कसे काम लें, जिसे हम ऊपर वस्तुसत्ताकी एकता सिद्ध करनेमें प्रयुक्त कर चुके हैं तो हम उसी प्रकार दिखा सकते हैं कि आत्मसत्ताएँ भिन्न नहीं हैं वरन् सत्ता आत्मा-की एक ही है और भेदोंका कारण केवल गुण ही हैं, जो आत्म और अनात्मके संसर्गमें न्यूनाधिक्य वा तारतम्यसे घटित होते हैं। ऊपर जो रीति हम दरसा चुके हैं उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

आत्म और अनात्मकी अलग अलग सत्ता है अथवा एक है?

हम अबतक जिस प्रकार अपना विचार प्रकट करते आये हैं उसमें आत्म और अनात्मकी सत्ताएँ अलग अलग न मानते तो तर्क वा युक्तिको व्यक्त करना असम्भव हो जाता। अब हमें यहाँ यह विचार करना है कि आत्म और अनात्म क्या वस्तुतः दो भिन्न भिन्न सत्ताएँ हैं? इस प्रश्नका विचार करनेमें यह न भूलना चाहिये कि हम दृश्यको बराबर अनात्म कहते आये हैं और द्रष्टाके नाते गुणोंके द्वारा वस्तुओंमें भेद देखते दिखाते आये हैं। जब गुणोंका ज्ञाता द्रष्टा है तब स्वयं द्रष्टा द्रष्टामें भेद जानना अथवा गुणोंके समूहके कारण अन्तर देखना किसी अन्य द्रष्टाका व्यापार होगा। परन्तु यदि हम इन द्रष्टाओंको उस अन्य द्रष्टाकी दृष्टिसे दृश्य मान लें तो उस अन्य द्रष्टाकी सत्तापर विचार करनेके लिए-

भी अन्यान्य द्रष्टाओंकी आवश्यकता होगी और यह विचार-शृङ्खला अनन्त और असमाप्य हो जायगी। इसलिए हम द्रष्टा और दृश्यके सम्बन्धमें विचार करते हुए और किसी युक्तिका आश्रय लेना पड़ेगा।

जाग्रत जगतमें हम द्रष्टा हैं और जगत दृश्य है। हम अपने द्रष्टा-पनको भी मानते हैं और जगतका दृश्य होना भी मानते हैं गम्भीर विचार करनेसे जान पड़ता है कि दोनोंका मानने वा जाननेवाला सम्भव है कि हमारी अहन्तासे भी अधिक कोई भीतरी सत्ता हो। हम सपनेमें देखते हैं कि हमारा शरीर अद्भुत आकारका हो गया है और हमारे सामने हिमालय पहाड़की बड़ी ऊँची चोटी आकाशको चूम रही है। सपनेमें यही विश्वास होता है कि यह पहाड़ अनादि कालसे खड़ा है और मैं भी, जो इसका द्रष्टा हूँ, अनादि कालसे हूँ। द्रष्टा और दृश्य दोनों ही सपनेमें सतत वर्त्तमान जान पड़ते हैं। सपनेके जगत्का स्रष्टा और सपनेके द्रष्टाका भी स्रष्टा कोई ऐसा अगोचर और कल्प-नातीत सत् है, जो न केवल स्वप्नावस्थाको उत्पन्न करता है, बल्कि सुषुप्ति अवस्थाके सुखका भी उत्पन्न करनेवाला है और जो केवल जाग्रतके चेतन वा द्रष्टाका तथा जाग्रतके दृश्यका आधार ही नहीं है, वरन् तुरीयावस्था वा निर्विकल्प समाधिकी दशामें जब कि चेतना वा अहन्ताका अभाव हो जाता है, तब भी शरीरके समस्त अविज्ञात कर्मोंका नियमन करता रहता है।

शरीरमें रहनेवाला चाहे कुछ घंटोंके लिए गाढ़ी नींदमें सोकर अपनी सभी इन्द्रियोंके व्यापार बंद रखे, परन्तु शरी-रके भीतर अनेक काम ऐसे हैं, जिन्हें कभी बन्द नहीं कर सकता। ज्ञातृत्वकी दृष्टिसे हमारे कर्म दो प्रकारके होते हैं। ज्ञात कर्म और अविज्ञात कर्म। ज्ञात कर्म वह सब काम

हैं, जिन्हें हम अपने संकल्पसे करते हैं। इन्द्रियोंके जितने व्यापार हैं सब ज्ञात कर्मकी कोटिमें आते हैं। अविज्ञात कर्म्म शरीरके भीतरके वह व्यापार हैं जो निरन्तर बिना हमारी छेड़छाड़के होते रहते हैं, चाहे हम उन्हें जानें वा न जानें हम निरन्तर साँस लेते रहते हैं। हमारा हृत्पिण्ड सदा एक नियमित परिमाणमें खून उछालता रहता है, पम्पका काम बराबर होता रहता है। शरीरके मांसतंतु बनते बिगड़ते रहते हैं। जठराग्नि और आमाशय और पक्काशयके रस पाचनक्रियामें निरन्तर लगे रहते हैं। वृक्क या गुर्दा अपना काम करता रहता है। शरीरके रोमकूप स्वेदन जारी रखते हैं। सारे शरीरमें फैली हुई धमनियों और शिराओंमें रक्त निरन्तर बहता रहता है और इसी रक्तस्रोतमें अलक्ष्य असंख्य सूक्ष्म प्राणी देवासुर संग्राम करते रहते हैं। इतने इतने विविध व्यापार और ऐसे बड़े बड़े मारके इसी देहमें सर होते हैं, पर हम जाग्रत जगतके द्रष्टाको बिलकुल पता नहीं होता। यही सब अविज्ञात कर्म हैं और कर्म अकारण नहीं हो सकते। ज्ञात कर्मोंके लिए जाग्रत जगतका चेतन वा द्रष्टा जिम्मेदारी लेनेके लिए तैयार है। इन कामोंको करे या न करे या जैसे चाहे वैसे करे, उसको सोलह आना अख़तियार है पर अविज्ञात कर्म्मोंके लिए चाहे वह कर्त्ता बनना स्वीकार भी कर ले और कहे कि मैं साँस लेता हूँ मैं रक्तका प्रवाह करा रहा हूँ, मैं खाना पचाता हूँ इत्यादि, तो भी वह पूरा पूरा जिम्मेदार इसलिए नहीं हो सकता कि यह सब काम उसके बूतेके बाहर हैं। वह इन्हें अपनी इच्छा-नुकूल न तो अनिश्चित कालतक बन्द कर सकता है और न किसी रुके हुए कामको अपनी इच्छासे जारी कर सकता

है*। और जब इस शरीरके यंत्रमें ऐसा विकार उत्पन्न हो जाता है कि शरीरका रहना ही असम्भव हो जाता है तो इस जाग्रत जगतका द्रष्टा चेतन इस शरीरमें रहनेकी इच्छा होते हुए भी बलात् निकाल दिया जाता है। सारांश यह कि द्रष्टा भी किसीकी सृष्टि है और दृश्यके ऊपर उसका अधिकार परिमित है। यद्यपि शरीर उसका दृश्य है तथापि इस शरीरका भी नियन्ता कोई और है और वह "और" यह द्रष्टा नहीं है।

हम अन्यत्र कह आये हैं कि जाग्रत और स्वप्नावस्थामें दृश्य और द्रष्टा दोनोंके दोनों किसी अन्यतम भीतरी आपेकी सृष्टि हैं। स्वप्नमें भी हम जब देखते हैं कि कोई हमारी गरदन मारता है, हमारा धन छीन ले जाता है, हमें कष्ट देता है, या जिस वस्तुकी हम इच्छा करते हैं वह हमसे दूर हटती

---

* भारतके एक प्रसिद्ध योगिराज अगम्य गुरु योगका एक अद्भुत चमत्कार दिखाया करते थे। संवत् १९५५ में विलायतके प्रो० मोक्षमूलरके सामने उन्होंने आधे मिनिटतक अपने हृदयकी गतिको रोक रखा था। यह सभी जानते हैं कि एक सेकंडके लिए भी धुकधुकी बन्द हो जानेसे शरीरका संबंध छूट जाता है, परन्तु अगम्य गुरु यह तमाशा अक्सर दिखाया करते थे। लेखकने स्वय देखा है कि एक मनुष्य अपने कान उसी तरह हिला लिया करता था जैसे पशु हिलाते हैं। उसने अभ्यास किया था। इन बातोंसे प्रकट होता है कि अभ्याससे अविज्ञात कर्मोंपर किंचित् अधिकार पाना संभव है और अपनी सुषुप्त शक्तियोंको भी जाग्रत कर सकते हैं। जीवका अंश होना इन बातोंसे प्रकट होता है। —के०

जाती है, इन सभी अनुभवोंमें द्रष्टाकी लाचारी प्रत्यक्ष है और स्वप्नकी सृष्टिका रचयिता द्रष्टासे भिन्न कोई दूसरा मालूम होता है। परन्तु जब हम सपनेकी बात जागतेमें याद करते हैं या जब हम सपनेमें ही जान जाते हैं कि सपना देख रहे हैं तो हमें यही जान पड़ता है कि सपना भी हमारी कल्पनाका ही फल था और मन बुद्धि और अहंकार हमारी भीतरी इन्द्रियाँ काम कर रही थीं। हम चाहे इन बातोंको कितने ही निश्चयसे जान जायँ, यह हमारी शक्तिके बाहर है कि हम अपनी स्वप्नावस्थाको जब चाहें नष्ट कर दें और जब जीमें आये निर्म्माण कर लें। इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रियोंपर भी हमारा अधिकार पूरा पूरा नहीं है। फिर भी इस अज्ञात नियन्तासे जो हमारी इन्द्रियों और शरीरके समस्त अविज्ञात व्यापारोंपर अपना अधिकार रखता है हमारा बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध जान पड़ता है। सब तरहके कामोंमें उसका और हमारा साझा है। बल्कि यों कहना चाहिये कि बिना उसके न केवल हम कोई कर्म्म करनेमें अशक्त हैं, बल्कि हमारा होना भी असम्भव है। द्रष्टाका आधार वा मूल वही एक सत्ता है।

इसमें तो सन्देह नहीं कि भिन्न भिन्न शरीरोंकी अहन्ता वा चेतना उसी तरह भिन्न हैं, जिस तरह दृश्य जगत्में वस्तुएँ भिन्न भिन्न हैं। आजकल वैज्ञानिक प्रयोगों और परीक्षाओंसे यह भी सिद्ध हुआ है कि मरनेके बाद प्राणी प्रेतावस्थामें रहता है और उसकी अहन्ता स्थूल शरीरके नष्ट होनेपर भी बनी रहती है और उस अहन्ताके लिए कोई सूक्ष्म शरीर होता है जो हमारी इन्द्रियोंसे अगोचर है। ऐसी दशामें प्रेतको मरनेके पहलेकी बातें उसी तरह याद रहती हैं जैसे जीवित दशामें भूतकालकी घटनाएँ। अभीतक किसी वैज्ञा-

निक परीक्षासे यह प्रत्यक्ष नहीं हुआ है कि यही प्रेत अहन्ता किसी नये स्थूल शरीरमें प्रवेश करती है, जिसे जन्मान्तर कहते हैं। अहन्ता वा चेतना ही स्मृतिका आधार है। कहीं कहीं ऐसा सुननेमें आया है कि मनुष्यने अपने पूर्व जन्मकी घटना भी ठीक ठीक बतायी है। परन्तु ऐसे साक्षियोंकी संख्या अत्यन्त थोडी है। या तो पुनर्जन्म इतने अधिक कालतक प्रेतावस्थामें रहनेके बाद होता है कि स्मृति नहीं रह सकती अथवा शरीरान्तर होनेसे जैसे सब नयी इंद्रियाँ मिलती हैं वैसे ही अहन्ता भी नयी मिल जाती है। दोनों बातें सम्भव और संगत जान पड़ती हैं। यदि प्रेतावस्थामें यह अहन्ता एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाती है और दुःख सुख हर्ष, अमर्षका अनुभव करती है तो किसी सूक्ष्म शरीरका होना अनिवार्य्य है। हमारे शास्त्रोंमें सूक्ष्म शरीर माना ही गया है इसके अतिरिक्त कुछ दिनोंतक रहनेवाला स्थूल शरीरका प्रतिरूप लिंगशरीर भी माना जाता है। सम्भव है कि स्थूल शरीरकी मृत्युके अनन्तर किसी अहन्ता वा चेतनको लिये हुए कोई सूक्ष्म शरीर वा कोष अपने चारों ओर नये स्थूल शरीरकी रचना करे और ऐसी दशामें अपने पहलेके स्थूल शरीरके अनुभवोंको याद रखे। इस तरह पूर्वजन्मकी बातें याद होना किसी मनुष्यमें सर्वथा असम्भव नहीं है। हमारे शास्त्रोंमें जन्मान्तरके सिद्धान्तोंमें कारणशरीरको जन्मान्तरका कारण बतलाया है। यह कारणशरीर सूक्ष्म शरीरसे भी अधिक सूक्ष्म और बीजरूप माना जाता है और कहते हैं कि इसमें ही जन्म जन्मान्तरोंकी अनन्त अनन्त घटनाओंका परिणामरूप अनुभव बीजरूपसे इकट्ठा रहता है, जो अगले जन्ममें स्वाभाविक वा प्राकृतिक प्रवृत्ति और निवृत्तिका रूप ग्रहण कर

लेता है। ऐसी दशामें घटनाओंका याद न रहना बिलकुल स्वाभाविक है। जो हो घटनाओंका ज्ञान और उनका अनुभव चेतनका व्यापार है।

कई पक्ष इस चेतनको ही आत्मा मानते हैं, परन्तु चेतन-की भिन्न भिन्न दशाएँ और भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्न मात्राएँ देखकर हम यह कहे विना नहीं रह सकते कि चेतनको जैसा हम समझते जानते बूझते हैं वैसा ही उसका सम्यक् रूप नहीं है। जिस प्रकार हमारे अनन्त जीवनमें हमारी सौ वर्षकी आयु अनन्त जगत् वा इस महाविस्तीर्ण भवसागरमें एक बिन्दुके समान भी नहीं है, अथवा यों कहिये कि शून्यके बराबर है, उसी तरह जिस चेतनको हम जानते समझते हैं वह अनन्त चिदात्माका ऐसा छोटा अंश है, जिसे शून्यकी बराबरी भी नहीं मिल सकती। ऐसे अपरिमित छुटाईवाले अंशको अलग देखते हुए सम्पूर्ण कह देना सम्भव नही है। साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि हम किसी ऐसी सत्ता-का विचार नहीं कर रहे हैं, जिसके टुकड़े हो सकते हों। हम आत्मसत्ताको एक दिखा आये हैं, इसलिए यहाँ यह कह देना अयुक्त न होगा कि आत्मारूपी महासागरमें भिन्न भिन्न चेतनाएँ तरंगोंकी हैसियत रखती हैं।

यहाँतक हम जो विचार कर आये हैं, उससे वस्तुकी सत्ता और आत्माकी सत्ता इन्हीं दोनोंकी कल्पना स्थिर हुई है। परन्तु अभीतक हमने यह विचार नहीं किया है कि वस्तुकी सत्ता और आत्माकी सत्ता एक ही है वा भिन्न। हम यह दिखा आये हैं कि गुणोंका समूह चाहे कितना ही भिन्न हो और वस्तुएँ कैसी ही अलग-अलग दीखती हों, पर सत्ता एक ही है और अनन्त है। इसी प्रकार आत्माकी सत्ता भी

अनन्त ही है। आत्म और अनात्म दोनोंकी सत्ताएँ अनादि, अनन्त, अपार, अखण्ड, अचिन्त्य, गुणातीत और कल्पनातीत है। यदि हम इन अज्ञातृत्व और निषेधवाचक शब्दोंको गुण मान लें तो आत्म और अनात्मकी सत्ताएँ भिन्न नहीं रह जातीं। अर्थात् हमें लाचार हो दोनोंको एक ही मानना पड़ता है। जब आत्म और अनात्म दोनों एक ही हैं, सत् एक ही है, तब इस भेद-भाव-सम्पन्न संसारकी स्थिति कैसे है? वेदान्ती लोग इस गुथीको सुलझानेके लिए यह युक्ति देते हैं कि जैसे समुद्रमें तरंगोंके संघर्षसे फेन बन जाता है, वैसे ही इस सत्ताके महासमुद्रमें निरन्तर तरंगोंके उठनेसे फेन रूपी संसार बनता बिगड़ता रहता है। यह युक्ति बहुत ही सुन्दर है, क्योंकि अब-तक विज्ञानका जितना अनुशीलन हुआ है उससे यही सिद्ध होता है कि वस्तुतः यह समस्त विश्व तरंगोंका ही फल है। वेदान्त तरंगोंको दृष्टान्तके रूपमें पेश करता है, परन्तु विज्ञान कहता है कि यह कोरा दृष्टान्त नहीं है। वस्तुतः विश्व तरंग-मय है। विश्वरूपी पटके तन्तु तरंग ही हैं। हम जिन आठों विषयोंको गिना आये हैं, वह भी पदार्थोंमें तरंगोंके उठनेसे और हमारे नाड़ीजालपर उनका प्रभाव पड़नेसे आविर्भूत होते हैं। जब विश्वकी सत्तामें तरंगोंका इतना बड़ा हिस्सा है तो समुद्र और तरंगकी युक्ति बहुत ही ठीक बैठी ही चाहे। बात यह है कि सतत परिवर्तनशील विश्वका होना परमसत्ता-का स्वभाव है, उसकी प्रकृति है। यही उसका होना है। विश्व कोई अलग सत्ता नहीं है, जिसके कारणपर विचार करनेकी आवश्यकता हो। यह परमसत्ता स्वयं कारण और स्वयं कार्य्य है। वेदान्तकी परिभाषामें इसे अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण कहते हैं। इसीलिए जब हम कार्य्य-कारणका सम्बन्ध ढूँढ़ने

लगते हैं तब अन्त ही नहीं मिलता। कार्य्य-कारणकी श्रृंखला मालाकार या चक्राकार हो जाती है। छः का अंक बनानेमें दो और तीनसे गुणा करना पड़ता है, इसमें दो और तीनमें कार्य्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। तीनका अधिकार अधिक और दो-का अधिकार कम नहीं है। छःके अंकमें दो और तीन दोनोंके दोनों समान भावसे व्यक्त हैं, छःकी सत्तासे भिन्न नहीं हैं, परन्तु कल्पनाद्वारा छःके अंश कहे जाते हैं। ऐसी ही दशा आत्म और अनात्मकी है। परमात्मा या परमसत्ता एक ही है। पूर्ण है। आत्म और अनात्म दोनों गुणोंका उसमें समावेश है, परन्तु स्वतः पूर्णरूपसे वह गुणातीत और एक ही है।

छठा प्रकरण

अनात्मकी एकतापर आधिभौतिक विचार

पूर्व प्रकरणका सिंहावलोकन—आत्मगत तथा वस्तुगत परीक्षा—विस्तृतिके परिमाण और वास्तविक दिशाएँ—हमारा जगत् त्रिदिक् है—एक दिक् जगत्की कल्पना—द्विदिक् जगत्की कल्पना—चतुर्दिक् जगत्की कल्पना—काल एक-दिक् सत्ता है और चुम्बकत्व उसका गोचर रूप है—देश द्विदिक् सत्ता है और विद्युत् उसका गोचर रूप है—वस्तु त्रिदिक् सत्ता है, घन द्रव वायव्य उसका गोचर रूप है—घन द्रव वायव्य वा पृथ्वी जल वायु स्थूल भूत हैं, वस्तुतः त्रिदिक् सत्ता घन, द्विदिक् द्रव एक दिक् वायव्य है—काल देश और वस्तुका पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी एकता—इसके अप्रत्यक्ष प्रमाण—संसार वा अनात्म इन्हीं तीनोंका समूह है—अनात्म सत्ता एक अखंड निराकार व्यापक अपरिच्छिन्न और अनामय है और आत्म-सत्तासे इन्हींकी एकतासे उसकी एकता है।

पिछले प्रकरणोंमें आत्म और अनात्मके सम्बन्धमें विचार करते हुए साधारण तर्कसे यह दिखाया गया है कि जिसे हम अनात्म कहते हैं, वह भिन्न भिन्न सत्ताओंका समूह नहीं है वरन् एक ही सत्ता है, किन्तु हमारे बाह्य और अन्तः-करणोंसे सम्पर्कभेदसे भिन्न भिन्न रूपोंमें दिखाई देता है वा प्रतीत होता है। द्रष्टा और दृश्य दोनोंकी ओरसे विचार करनेसे तर्क वा परीक्षा दो तरहकी होती है एक आत्मगत् और दूसरी वस्तुगत्, अथवा अधिक शुद्धरूपमें आध्यात्मिक

और आधिभौतिक। इन दो रीतियोंमेंसे पूर्व प्रकरणमें हमने पहली रीतिका अनुसरण किया है। इस प्रकरणमें वस्तुगत परीक्षा ही हमारा अभीष्ट है। आत्मगत परीक्षाओंका आश्रय लेकर यह दिखानेकी चेष्टा की जा चुकी है कि आत्म और अनात्म रूपी एक ही सत्ताकी दो लहरोंके संघर्षसे फेनकी उत्पत्ति जिस प्रकार होती है उसी प्रकार हमारी इन्द्रियोंके विषय भी भिन्न भिन्न दीखते हैं। वस्तुगत वा आधिभौतिक परीक्षा विस्तृत और स्वतन्त्र विषय होनेके कारण अलग ही दी जाय तो पाठकोंको अधिक सुभीता होगा।

देश और कालकी कल्पनामें यह दिखाया जा चुका है कि किसी वास्तविक सत्ताका हमारी इन्द्रियोंके विशेष नाड़ीजाल-पर विशेष प्रभाव पड़ता है, इससे हमारी चेतनामें देश और कालकी कल्पना उदय होती है। वस्तुकी सत्ताका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी इन्द्रियोंद्वारा मिलता है। काल, देश और वस्तु इन्हीं तीनसे अनेक पाश्चात्य और प्राच्य दार्शनिक जगतकी स्थिति बताते हैं और अद्वैतवादी इन्हें एकही कहते हैं। परन्तु कोरी युक्ति और तर्कके अतिरिक्त क्या कोई वैज्ञानिक तथ्य भी ऐसे हैं जिनसे इनकी एकता प्रमाणित होती है, अथवा विज्ञानसे क्या ऐसे वस्तुगत वा आधिभौतिक प्रमाण भी मिलते हैं जो इनकी एकताके पक्षमें हमारी युक्तियाँ वा तर्कों-की पुष्टि करते हों? इस प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयत्न इस प्रकरणमें करेंगे।

देशकी कल्पनापर विचार करते हुए हम यह देख चुके हैं कि विस्तारके परिमाण तीन ही हैं, यही बात गणितकी शास्त्रीय परिभाषामें यों कही जाती है कि देशमें किसी नियत विन्दुपर ऐसी लम्ब रेखाएँ तीनसे अधिक कदापि नहीं बन

सकतीं जो परस्पर समकोण बनाती हों। हमारे अनुभवमें केवल तीन ही दिशाएं आती हैं, इस बातका प्रमाण यही है। दूसरे शब्दोंमें हम यों कह सकते हैं कि समस्त गोचर पदार्थके तीन ही परिमाण हैं—लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई अथवा अधिक शुद्ध रीतिसे दैर्घ्य, प्रस्थ और वेध। जिस धरातलपर हम खड़े हैं उसके ऊपर ही या समानान्तर चार या आठ समकोण बनाती हुई रेखाओंको हम चार या आठ दिशाएं कहते हैं। पर यह आठों परस्पर समकोण नहीं हैं। पूर्व पश्चिम जानेवाली एक रेखा और उत्तर दक्खिन जानेवाली दूसरी रेखा है। यह दोनों रेखाएं समकोण बनाती हुई हमारे पदतलपर मिलती हैं। कोणोंको मिलाती हुई रेखाएं लें तो भी दो ही रेखाएं हमारे पद तलपर समकोण बनाती हुई मिलेंगी। निदान हमारे पद तलपर धरातलस्थित यही दो दिशाएं हुईं। इन्हें ही हम दैर्घ्य और प्रस्थ, लम्बाई, और चौड़ाई कह सकते हैं। तीसरी रेखाके स्थानमें पूर्व निश्चित विन्दुपर हम स्वयं खड़े हैं, जिसे हम नीचे ऊपर अथवा वेध कह सकते हैं। यह रेखा भी धरातलस्थित दोनों रेखाओंसे समकोण बनाती है। यही वस्तुतः तीसरी दिशा है। साधारण रीतिसे पूर्वोक्त आठ दिशाओंके साथ इस ऊपर नीचेकी और दो दिशाएं मानकर हम दस दिशाओंकी कल्पना करते हैं। परन्तु गणितकी रीतिसे विस्तृतिके तीन ही परिमाण हैं और तीन ही दिशाएं हैं।

हमारी इन्द्रियाँ ऐसी बनी हुई जान पड़ती हैं कि उन्हें इन्हीं तीनों दिशाओंका अनुभव होता है। साधारणतया यों भी कह सकते हैं कि जिस पदार्थकी हमारी इन्द्रियाँ बनी हुई हैं वह भी त्रिदिक् या त्रिपरिमाणी है, अथवा जिस नाडीजालसे हमारी विविध इन्द्रियोंको अनुभव करनेकी शक्ति है वह

स्वयं त्रिपरिमाणी वा त्रिदिङ्मय है और हमारे लिए समस्त अनुभूत जगत् इसीलिए त्रिपरिमाणी वा त्रिदिक् जान पड़ता है। वस्तुतः यह विश्व चाहे एकदिक्से लेकर चतुर्दिक् वा बहुदिक् भी हो परन्तु हमको अनुभव केवल त्रिदिङ्मय जगत्का ही होता है। यह भी सर्वथा असम्भव नहीं है कि हमारा शरीर भी चतुर्दिक् वा बहुदिक् हो, परन्तु हमारे नाड़ीजालकी वा हमारी चेतनाकी स्थिति ऐसी हो कि हम इस जाग्रत जगत्में त्रिदिक्से अधिकका अनुभव न करते वा कर सकते हों। हमारे त्रिदिक्वाले अनुभवके अन्तर्गत एकदिक् तथा द्विदिक् भी है। अतः एक वा दो दिशाओंको ही लेकर हम एकदिक् वा द्विदिक् जगत्का अनुमान कर सकते हैं। परन्तु चौथी दिशा हमारे अनुभवकी सीमासे अत्यन्त बाहर होनेके कारण हमारे अनुमानसे भी बाहर है। तो भी यहाँ हम उसे बुद्धिग्राह्य कर देनेकी चेष्टा करेंगे।

एक कमरेके कोनेमें यदि हम खड़े हों तो स्वभावतः हमको कोण रेखाओंमें तीन दिशाएं अंकित दीखेंगी। दो भीतोंके मिलनेके स्थानमें कोनकी रेखा जो नीचेसे ऊपर गई हुई है, एक दिशा हुई। दूसरी और तीसरी दिशाएं वह दोनों कोण रेखाएं हुई जो अगल बगलकी भीतों और धरातलके मिलनेके स्थानमें बनी दीखती हैं। यही तीन दिशाएँ किसी भी विन्दुपर हमें दीखेंगी और चाहे कैसा ही टेढ़ामेढ़ा आड़ा तिर्छा मार्ग हम बनावें किसी विन्दुको स्थिर करके यही तीन दिशाएं हम पायेंगे। इन्हीं तीन दिशाओंके विविध तारतम्य और योगसे कमरेके किसी विन्दुपर वा किसी स्थानपर हम पहुँच सकते हैं। यदि इन्हीं तीन रेखाओंको हम अनन्त देशमें तीनों ओर विस्तृत मान लें तो देशमात्रमें किसी विन्दुपर पहुँच सकते

है। सारांश यह कि देशमें केवल तीन दिशाएं सिद्ध होती हैं; चौथी, पाँचवीं, छठीं आदि दिशाएं क्यों नहीं हैं वा क्यों न मानी जावें? इस विषयको समझनेके लिए कि देश तीन ही दिशाओंसे परिच्छिन्न क्यों दीखता है और चौथी दिशा सम्भव है कि नहीं, हम एकदिक् और द्विदिक् संसारपर विचार किये बिना नहीं रह सकते।

यदि हम ऐसे जगत्की कल्पना करें जिसमें केवल एक ही दिशा हो तो हमें मानना पडेगा कि यह जगत् एक रेखा-का बना हुआ है जिसका आदि अन्त नहीं है, परन्तु रेखामें लम्बाई ही एक दिशा है, चौड़ाईकी कोई कल्पना नहीं है। यदि इस रेखा-जगत्में हम रेखामय जीवोंका अस्तित्व मानें तो यह जीव नन्हीं रेखाओंके ही रूपमें होंगे, आगे पीछे चलना ही सम्भव होगा। अगल बगलकी इन्हें कल्पना नहीं हो सकती। ऐसे दो जीव यदि आमने सामने पड़ जायँ तो राह रुक जायगी, एक दूसरेकी बगलसे जानेकी न तो कोई कल्पना रखता है, न मार्ग ही है। दोनोंको वा कमसे कम एकको पीछे हटना पड़ेगा। ऐसी दशामें इन जीवोंका दोमुँहा होना आवश्यक होगा। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि जीव एक रेखासे दूसरी रेखामें इन दो ही दिशाओंद्वारा आ जा सकता है, परन्तु हमारी कल्पना हमारी एकसे अधिक दिशाओंकी कल्पनापर निर्भर है, और इन जीवोंको इसका अनुभव ही नहीं। इन प्राणियोंके रूप भी एकसे ही होंगे, केवल बड़े छोटे ही होनेका परस्पर अन्तर होगा।

इसी प्रकार यदि हम ऐसे जगत्की कल्पना करें जिसमें केवल दो ही दिशाएं हों, अर्थात् ऐसा धरातल हो जिसमें उत्तर, दक्खिन, पूरब, पच्छिम तो हों, पर ऊँचाई नीचाई न

हो और यह धरातल विस्तारमें अनन्त हो। इस असीम मैदानमें जितने द्विदिक् प्राणियोंकी कल्पना हो सकती है सबमें रूपकी दृष्टिसे अनन्त भेद हो सकते हैं। द्विभुज, त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज, षडभुजादि, गोल, लम्बोतरे, टेढ़े मेढ़े सभी रेखाओंके प्राणी अनन्त दिशाओंमें चलने फिरनेकी सामर्थ्य रखनेवाले परन्तु अपने धरातलमें ही सीमित रहनेवाले असंख्य हो सकते हैं।

इन प्राणियोंकी कल्पनामें ऊपर नीचेके अस्तित्वकी भी समाई नहीं हो सकती। यदि इन्हें रेखात्मक संसारके प्राणियों-का अनुभव हो तो वह शायद यह विचार कर सकें कि जिस प्रकार द्विदिक् और एकदिक् संसार है उसी तरह त्रिदिक् और चतुर्दिक् वा बहुदिक्की सम्भावना भी है। उसे यदि एकदिक् संसारके प्राणियोंसे अधिक सुभीता है तो इतना ही कि वह अनेक रूप और जातियोंका हो सकता है और अनेक मार्गोंसे चल सकता है। यदि उसे एक परिधि चतुर्भुज या अन्य किसी बन्द आकारके भीतर रख दें जिसकी रेखाओंमेंसे घुसकर आना जाना सम्भव न हो, तो द्विदिक् प्राणी सहज ही कैद हो जायगा। उसकी वही दशा होगी जो ऊपर नीचे और सब ओरसे बन्द कमरेके अन्दर हमारी हो सकती है। उसकी चेतनामें ऊपर नीचेवाली दिशाका भान उसी तरह असम्भव है जिस तरह हमारी चेतनामें चौथी दिशाका। थोड़ी देरके लिए मान लीजिए कि हमने द्विदिक् जगत्के मैदानमें अपनी अँगुली रख दी। द्विदिक् प्राणीको हमारी अँगुलीका अनुभव केवल एक गोल रेखाके रूपमें हो सकता है। ऊपर नीचेके ज्ञानके अभावमें उसे अँगुलीके और अंशोंकी कल्पना भी नहीं हो सकती, अनुभव तो दूर रहे। अँगुली उठानेपर उसे क्या

अनुभव होगा? वह यह समझेगा कि अभी इस संसारमें एक वक्र रेखावाला प्राणी प्रकट हुआ था और अभी अभी एकाएकी अन्तर्द्धान हो गया। अथवा, यदि कोई द्विदिक प्राणी किसी द्विदिक् कारागारमें बन्द हो और हम उसे उठाकर बाहर कर दें तो पहले तो उठाते समय वह अचेत हो जायगा क्योंकि उसकी चेतना द्विदिक् संसारमें सीमित है, और यदि अचेत न भी हुआ तो उसका अनुभव अभूतपूर्व और वर्णनातीत होगा। उसे आश्चर्य होगा कि मैं बन्दीखानेसे कैसे बाहर आ गया।

गणितज्ञोंने इन कल्पनाओंके सहारे एवं अन्य गणित-सम्बन्धी विचारोंसे चतुर्दिक् जगत्के सम्बन्धमें अनेक बातें स्थिर की हैं, जिनपर विस्तार करना हमारा अभीष्ट भी नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो जो अनुभव द्विदिक् संसारके कल्पित प्राणियोंके त्रिदिक् प्राणियोंके प्रति होने सम्भव हैं वही अनुभव ठीक ठीक त्रिदिक् प्राणियोंको चतुर्दिक्से हों, यह आवश्यक नहीं है। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उस तरहके अनुभव किसी किसी विशेष परिस्थितिमें हो जाने असम्भव भी नहीं हैं। यह असम्भव कल्पना नहीं है कि हमारा शरीर स्वयं चतुर्दिक् हो, परन्तु हमारी चेतना त्रिदिक्में सीमित होनेके कारण ही हम तीनसे अधिक दिशाओंका अनुभव नहीं कर सकते। यह बात भी सहज ही कल्पनामें आ सकती है कि यदि कोई चतुर्दिक् जगत्का प्राणी—यदि उसका वास्तविक अस्तित्व हो—हमारे त्रिदिक् जगत्में आवे, अथवा यों कहना चाहिये कि अपनेको हमारी इन्द्रियोंके गोचर करे, तो हमको उसके एकाएकी अन्तरिक्षसे अथवा उसी अज्ञात और अननुभूत चौथी दिशासे "प्रकट" हो जानेका दृश्य देखने-

में आवेगा। हम उसे त्रिदिङ्मय शरीरधारी ही देखेंगे और जब वह अपनी विशिष्ट चौथी दिशासे प्रस्थान करेगा हमारे लिए एकाएकी अन्तर्द्धान हो जायगा। यह भी न भूलना चाहिये कि जो दिशामें हमारे लिए अननुभूत और अज्ञात है कहीं गज़ दो गज़की दूरी पर भी नहीं है। वह इतने ही पास है जितने हम स्वयं हैं। अन्तर्द्धान होनेवाली चतुर्दिक् जगत्की व्यक्ति भी सम्भव है कि एक गज़ दो गज़से भी अधिक निकट हो। उसकी दृष्टिसे हम लोग वस्तुतः बन्दीगृहमें पड़े हुए हैं, हमारे विचार अत्यन्त ही संकुचित हैं, हमारी इन्द्रियाँ नितान्त निकम्मी हैं। यह भी गणितके सहारे कल्पनागत बात है कि जिस दूरीको हम दो चार सहस्र मील समझते हैं चौथी दिशा द्वारा वह अत्यन्त ही पास हो और चतुर्दिक् संसारका प्राणी पलमें अमरीका और भारतवर्षके अन्तरको बिना किसी अलौकिक बल वा शक्तिके तय कर सकता हो। जिस प्रकार त्रिदिक् प्राणीके लिए यह प्रायः असंभव है कि द्विदिक्को थामकर एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जा सके, शायद चतुर्दिक्वालेको हमारे लिये भी ऐसी ही कठिनाई हो। परन्तु यदि किसी विशेष परिस्थितिमें यह सम्भव हो जाय तो यह दृश्य भी देखनेमें आ सकता है कि जो मनुष्य आज कारागारकी चार दीवारीमें कैद है कल स्वच्छन्द न्यूयार्कके पार्कमें टहलता देखा जाय। इन कल्पनाओंमें इस बीसवीं शताब्दीमें अब भी यह बात अत्युक्ति सी जान पड़ेगी, परन्तु प्राचीन क़थाओंमें और इसी विक्रमकी बीसवीं शताब्दीके वैज्ञानिक तथ्योंमें ऐसी बातोंका निरन्तर अभाव नहीं है।

हम कह चुके हैं कि हमारी दिशा सम्बन्धी कल्पनाएँ विज्ञान और गणितके ही आधार पर हैं। इसकी गवाही भी

एक दिशा विशेषसे मिली है। जो लोग यूरोपके आध्यात्मिक वा मानसिक परीक्षाओं और प्रयोगोंके विवरण पढ़ते रहे हैं वह प्रेतोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ जान चुके हैं। इंगलिस्तानमें भी एक सभा है जो प्रेतोंके सम्बन्धमें खोज किया करती है। प्रेतसे हमारा अभिप्राय उसके शुद्ध अर्थसे है—अर्थात् वह लोग जो मर चुके हैं। मरे हुए जीवोंको जीवित लोगोंके द्वारा बुलाकर उनसे मरनेके बादकी बातें पूछी जाती हैं। उन्नीस बरस पहले इसी सभाके एक उन्नायक नायक प्रोफ़ेसर मैअर्स थे जिन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि मरनेके बाद मैं भी अपनी गवाही इस सभाके सम्मुख दूँगा। अपनी मृत्युके दो बरस पीछे वह कई स्थानोंमें भिन्न भिन्न स्त्री पुरुषोंके द्वारा प्रकट हुए और अपनी पूरी परीक्षा करायी। जब सब तरहसे यह निश्चय हो गया कि गवाही देनेवाले प्रेतजीव प्रोफ़ेसर मैअर्स ही हैं, तब उनसे मरनेके बादके वृत्त पूछे गये। उन्होंने मरनेके बाद अपनेको वर्णनातीत सुखमें बताया। महत्त्वकी बात यह मालूम हुई कि वह प्रेतावस्थामें जैसे स्वच्छन्द, जैसे सशक्त, जैसे स्वतन्त्र थे उसकी कल्पना वह उन शब्दोंके द्वारा नहीं करा सकते थे जिन शब्दोंके सहारे वह अपने माध्यमसे काम लेते थे। उनका स्पष्ट कहना था कि इस मर्त्यलोकके प्राणी सभी एक तरहके बन्दीगृहमें बन्द हैं, जिसमें अन्धकार ही अन्धकार है और प्रेतयोनिसे गवाही देनेवाला मर्त्यलोकके अल्प पारदर्शी आवरणके भीतर अपना तीव्र प्रकाश बड़ी कठिनाईसे पहुँचा सकता है। यह तो हुई इस त्रिदिक् संसार-के प्राणियोंकी लाचारीकी बात। साथ ही यह भी महत्त्वकी बात इन आध्यात्मिक वा मानसिक परीक्षाओंमें देखी गयी कि एडिनबरा और लंडनमें प्रायः थोड़े ही क्षणोंके अन्तरमें भिन्न

भिन्न व्यक्तियों द्वारा मैअर्सके जीवनकी गवाही हुई और तत्क्षण ही तार-समाचारद्वारा उभय स्थानोंकी गवाहीकी सत्यता भी जाँच ली गयी। इससे यह सिद्ध हो गया कि कई सौ कोसकी दूरी जैसे क्षणमात्रमें बिजलीने तय की उसी तरह मैअर्सके प्रेतने भी तय की—बिजलीकी गतिसे चला। चतुर्दिकवाली कल्पनासे यह बात असम्भव नहीं प्रतीत होती। मैअर्स आदिकी गवाही वैज्ञानिक तथ्य है, जो पौराणिक कथाओंसे कम रोचक और विचित्र नहीं है।

त्रिदिक् संसारकी सभी वस्तुएँ हमको त्रिदिक् दीखती हैं। यदि एकदिक् संसार वा द्विदिक् संसार वस्तुतः हो तो उसमें वस्तुएँ भी एकदिक् वा द्विदिक् होनी चाहिएँ। इसी प्रकार चतुर्दिक् संसारकी वस्तुएँ भी चतुर्दिक् रूपविशिष्ट होंगी। जब एकदिक् द्विदिक् रूप गणितके तथ्य हैं तो क्या यह सम्भव नहीं कि एकदिक् द्विदिक् वस्तु भी भौतिक विज्ञानके तथ्य हों? क्या हमने समस्त भौतिक शक्तियों पर पूर्ण विचार करके यह निश्चय किया है कि उनमें भी एकदिक् द्विदिक् आदि भेद हैं वा नहीं? भौतिक विज्ञानके पण्डित यह अच्छी तरह जानते हैं कि चुम्बकत्व एक ऐसी शक्ति है जो रेखाओंमें ही चलती है, तड़ित् तरंगोंमें चलती है और शुद्ध धरातलोंसे उसका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। कमसे कम इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यद्यपि बिजली व्यापक है तथापि त्रिदिक् वस्तु नहीं है। तरंगोंके साथ द्विदिक्की कल्पना भले ही हो सकती है। चुम्बकत्व और बिजलीका घनिष्ट सम्बन्ध भी वैज्ञानिकोंसे छिपा नहीं है। चुम्बकत्वसे बिजली प्रकट होती है और बिजलीके बलसे चुम्बकत्वका आविर्भाव होता है। यद्यपि विज्ञानने अबतक ठीक ठीक शब्दोंमें यह न बत-

लाया कि बिजली या चुम्बकत्व वस्तुतः है क्या, परन्तु इन दोनोंकी क्रियाओं और प्रक्रियाओं पर अनेक सूत्र ऐसे रचे जो नित्यके व्यावहारिक प्रयोगोंमें बावन तोला पाव रत्ती ठीक उतरते हैं। भौतिक एवं तडिद्विज्ञानके जगत्प्रसिद्ध आचार्य सर जे० जे० टामसनने यह सिद्ध किया है कि समस्त गोचर त्रिदिक् वस्तुओंके सूक्ष्म उपादान जो रासायनिक परमाणु हैं वह स्वयं सहस्रों अत्यन्त सूक्ष्म विद्युत्कणोंके बने हैं और यह विद्युत्कण विद्युत्की शक्तिके अंशमात्र हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि त्रिदिक् वस्तुओंके उपादान त्रिदिक् परमाणु ऐसे विद्युत्कणोंके बने हैं जो स्वयं त्रिदिक् वस्तु नहीं हैं। ऊपर जितने अनुमान हमने दिक्वादके सम्बन्धमें किये हैं उन्हें भी यहाँ प्रयुक्त करें तो मानना पड़ेगा कि त्रिदिक् आकार, ठोस आकार, किसी सम धरातलकी गति अपने लम्बकी ओर हो जाने से ही बनता है। अथवा यों कहिये कि त्रिदिक् आकारका मूल द्विदिक् आकार अर्थात् समधरातल है। त्रिदिक् परमाणुकी रचना करनेवाले विद्युत्कण भी इसी कल्पनाके अनुसार द्विदिक् समधरातलीय हैं, जिनकी गतिसे ही परमाणुकी रचना होती है। यों विचारनेसे भी बिजलीका द्विदिक् होना हमारी कल्पनामें सहज ही आ सकता है। विज्ञानने अभीतक यह पता नहीं लगाया है कि इन विद्युत्कणों-के ही उपादान क्या हैं अथवा यह बिजली ही किन पदार्थों वा शक्तियोंसे बनी है। विज्ञान एक अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थकी कल्पना करता है जिसे आकाश कहता है और सम्भव है कि भविष्यमें इसी आकाशके ही सूक्ष्मांशोंमें विद्युत् चुम्बकत्व आदि शक्तियोंका पालना मिल जाय और जन्मका पता लग जाय, परन्तु अभी तो विद्युत्के ही रहस्य उसकी चकाचौंधमें

गुप्त हो रहे हैं। सम्प्रति चुम्बकत्वका विद्युत्से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि यदि हम यह मान लें कि जैसे विद्युत्कण परमाणुओंके उपादान हैं और द्विदिक् हैं वैसे ही चुम्बकत्व भी विद्युत्कणोंका उपादान है और एकदिक् है। ऐसी कल्पना करनेमें हमको विशेष बाधा इसलिए नहीं है कि चुम्बकत्व केवल रेखात्मक ही नहीं वरन् उसमें आकर्षण और अपकर्षण दोनों ही गुण हैं जो विद्युत्कणोंमें विद्यमान हैं।

इसप्रकार हमने चुम्बकत्वको एकदिक् विद्युच्छक्तिको द्विदिक् और साधारण गोचर वस्तुओंको त्रिदिक् माना।

साथ ही यह प्रश्न भी उठाना अनुचित न होगा कि यदि एकदिक् द्विदिक् दोनों कल्पनाएं त्रिदिक्के अन्तर्गत हैं, और गणितके विचारसे दोनों तथ्य हो सकते हैं, तो क्या हम "वस्तु" के साथ ही ऐसी सत्ताका अनुमान नहीं कर सकते, अथवा ऐसी कोई सत्ता नहीं मानते जो एकदिक् द्विदिक् कही जा सके? कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हमने प्रस्तुत प्रबन्ध ही देश काल और वस्तुके विचारसे आरम्भ किया है और यदि हम उसी कल्पनाके अनुसार चलें तो कह सकते हैं कि काल एकदिक् सत्ता है, देश द्विदिक् सत्ता है और वस्तु तो त्रिदिक् है ही। हमने कालकी सत्तापर विचार करते हुए यह दिखाया है कि कालके सम्बन्धमें या तो अनन्तताकी कल्पना हो सकती है अथवा यही कह सकते हैं कि उसकी सत्ता ही नहीं है, परन्तु इसमें तिलभर भी सन्देह नहीं कि भूत भविष्य और वर्तमान यह तीनों कालविभाग सापेक्ष हैं, नित्य नहीं हैं। ऐसी अनन्त सत्ताको एकदिक् कहें तो कोई बाधा नहीं प्रतीत होती। इसी तरह देशकी कल्पनामें यह दिखाया गया है कि देश अनन्त है अथवा उसकी सत्ताका ही अभाव है, परन्तु

इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं कि उसके अंशोंकी कल्पना सापेक्ष है, नित्य नहीं है। देशकी कल्पना समधरातलके विस्तारके समान है, क्योंकि यदि हम प्रोफ़ेसर रेनाल्ड्सके सिद्धान्तको थोड़ी देरके लिए मान लें तो यह कहनेमें तनिक भी सङ्कोच न होगा कि समस्त गोचर वस्तु देशकी गतिसे ही निर्मित है। गति और कालका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि स्वयं काल शब्द गतिका द्योतक है। गति देशमें ही सम्भव है और रेखामें ही होती है, गतिसे समयका मान करते हैं। यह सच है कि देशमें गति तीनों ही दिशाओंमें होती है, परन्तु तीनों ही दिशाओंमें गति होते ही ठोस वा त्रिदिक् आकार बन जाता है और दो दिशाओंमें गति होनेसे सम धरातलकी सीमाएँ बन जाती हैं।

इस तरह हमने कालको एकदिक्, देशको द्विदिक् और वस्तुको त्रिदिक् सत्ता माना है। कालका गोचररूप चुम्बकत्व-में, देशका विद्युत्में स्पष्ट होता है। इसी प्रकार वस्तु का गोचररूप घन, द्रव और वायव्यमें प्रकट होता है।

हमारे प्राच्य दर्शनोंने जिस प्रकार पञ्चमहाभूतोंके स्थूल और सूक्ष्म दो रूप माने हैं उसी तरह यहाँ हम भी घन, द्रव, वायव्य इन तीनों स्थितियोंके स्थूल और सूक्ष्म दो रूप मान सकते हैं। पृथ्वी, जल और वायु इन्हीं तीन भूत घन, द्रव, वायव्यके प्राचीन नाम हैं। अब एकदिक, द्विदिक् और त्रिदिक जब तीन जगत् सूक्ष्मताके तारतम्यसे माने गये और चुम्बकत्व, विद्युच्छक्ति और वस्तु यह तीन प्रत्येक जगत्की गोचर वस्तुएँ मानी गईं, तो यह कल्पना भी हम सहज ही कर सकते हैं कि चुम्बकत्व सूक्ष्म सत्ताका वायव्य रूप है, विद्युत् द्रव रूप है और साधारण त्रिदिक् वस्तु घनरूप है। चुम्बकत्व वायुरूप है,

विद्युत् जलरूप है और साधारण त्रिदिक् वस्तु घनरूप हैं। जिस प्रकार "आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यां पृथिव्यः" आदि वाक्योंसे एक भूतका दूसरेसे उत्पन्न होना श्रुतिका प्रमाण है उसी प्रकार चुम्बकत्वरूपी वायुसे विद्युद्रूपी जल और विद्युद्रूपी जलके घनीभवनसे वस्तुरूपी पृथ्वीका घनीभवन सहज ही कल्पनागत हो सकता है। यह हम पहले दिखा आये हैं कि इसमें कई तथ्य प्रयोगोंसे सिद्ध हो चुके हैं। विद्युत्से ही अथवा विद्युत्कणोंसे ही परमाणुओंकी रचना टामसन प्रभृति अनेक प्रमुख वैज्ञानिकोंके परीक्षासिद्ध तथ्य हैं। चुम्बकत्वके काल्पनिक वायव्य कणोंसे द्रवरूप वास्तविक विद्युत्कणोंकी रचना और वास्तविक विद्युत्कणोंसे घनरूप वास्तविक परमाणुओंकी रचना यह वर्तमान लेखकके मस्तिष्कसे ही मौलिक रूपसे उद्भूत नहीं है। इसका प्रथम भाग यद्यपि प्रयोगसिद्ध नहीं है तथापि दूसरा भाग तो सर्वमान्य ही है। पहले भागकी कल्पनाके ऊपर एवं गत कई पृष्ठोंमें जिस दिग्वादका दिग्दर्शन किया गया है उस दिग्वादको लेकर मद्रास प्रान्तके एक विद्वान् सिविलियन राममूर्त्ति* महोदयने चुम्बकत्व और विद्युत्-सम्बन्धी अनेक सर्वमान्य सूत्रोंको शुद्ध गणित द्वारा सिद्ध किया है। प्रकृतिके कई नियम जो भौतिक विज्ञानके आधारस्तम्भ हैं दिग्वादकी कल्पनापर गणितसे प्रमाणित किये हैं। दिग्वादकी उपर्युक्त कल्पनाएँ इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूपसे गणितद्वारा सिद्ध की जा चुकी हैं। राममूर्त्ति महोदय-

---

* राममूर्त्ति महोदयका अप्रकाशित निबन्ध हमें काशीगणितपरिषत्के सभापति विद्वद्वर डाक्टर गणेशप्रसाद एम० ए०, डी० एस-सी०की कृपासे पढ़नेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह *Proceedings of the Benares Mathematical Society*, (*Vol I*) नामक पत्रमें अंशतः छपा है। निबन्ध बड़े महत्त्वका है।

का भी यही लक्ष्य है कि अनात्म एकही सत्ता है। चुम्बकत्वसे बिजली, बिजलीसे समस्तगोचर वस्तुका आविर्भाव हुआ है। कालकी ही कल्पना-विस्तारसे और गतिप्रसारसे देश का आविर्भाव है और देशकी ही गतिसे वस्तु प्रकट होती है। काल देश और वस्तुका तो भी कार्य्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। गति परिवर्त्तनमात्रको प्रकट करती है। सबका उपादान शक्तिमात्र है। शक्तिके ही भिन्न भिन्न रूप ग्रहण करनेसे विविध चक्रोंमें स्फुरण करनेसे क्रमशः सूक्ष्म वायव्य द्रव और घनका प्रादुर्भाव होता है। मिट्टीका एक निकम्मा ढेला शक्तिभवानी का एक अनन्त अखंड समूह है, यद्यपि देखनेमें अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है।

वैज्ञानिक दृष्टिसे जितने अस्तित्वको हम अनात्म कहते हैं, जो कुछ अपने आपेके अतिरिक्त जगत् वा संसारकी सत्ता है, वह एकदिक्, द्विदिक् एवं त्रिदिक् वस्तुओंसे ही निर्मित है। चतुर्दिक् पदार्थकी कल्पना भी राममूर्त्ति महोदयने की है और कई भौतिक नियम तदनुसार निकाले हैं जो अभी सर्वथा निर्विवाद नहीं कहे जा सकते। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि चतुर्दिक् सत्ता है तो वह त्रिदिक् सत्तासे उसी प्रकार बनी है, जिस प्रकार द्विदिक् त्रिदिक्का और एकदिक् द्विदिक् का उपादान है। निष्कर्ष यह, कि एकदिक्से लेकर बहुदिक् जगत्तक जिसकी कल्पना हो सकती है और जो कुछ अस्तित्व अपने आपेके अतिरिक्ति गोचर वा अगोचर हो सकता है सभी एक ही किसी मूल उपादानसे बना है अथवा उसका ही विविध रूपान्तर है। वह मूल उपादान निर्गुण है, अगोचर है, कल्पनातीत है, अक्षर है, अव्यय है, अखंड है, निराकार है, अपरिच्छिन्न है, व्यापक है, अनामय है और अनन्त है।

उस मूल उपादानको ही मूलप्रकृति नामसे हमारे दार्शनिक पुकारते हैं, परन्तु वैज्ञानिक उसको ठीक उन्हीं विशेषणोंसे अलंकृत करते हैं जिन विशेषणोंसे हमारे वेदान्ती ब्रह्मको सम्बोधन करते हैं। ब्रह्म वा आत्मसत्ताको भी जब इन्हीं विशेषणोंसे पुकारते हैं तो अब पुनः यह विचार उपस्थित होता है कि क्या इन्हीं विशेषणोंसे युक्त दो सत्ताओंकी स्थिति संभव है? राममूर्त्ति महोदय अनात्मसत्तापर गणितकी सारी युक्तियाँ लगाकर यही स्थिर करते हैं कि अनात्मसत्ता एक ही है, परन्तु आत्म और अनात्म एक ही है वा भिन्न इसपर वह विचार नहीं कर सके। संभव है कि किसी अगले निबन्धमें यह प्रयत्न करें।

सत्ताके महाविटपकी शाखाएँ नीचे हैं* और मूल ऊपर है। विज्ञानके उपासक शाखा पकड़ पकड़ एक एकका अनुशीलन करते करते मूलकी ओर जा रहे हैं। स्थूलका विचार करते करते सूक्ष्मके विचारतक आना नितान्त स्वाभाविक है। जितनी शाखाएँ विज्ञानकी जानी गयी हैं, सबके मूलकी खोजमें भिन्न भिन्न मार्गोंसे आरोहण करके सभी वैज्ञानिक एक ही तनेपर मिल जाते हैं और एक ही मूलकी ओर सभी प्रवृत्त होते हैं। मूल भी शाखाओंकी तरह भिन्न भिन्न दिशाओंमें प्रसरित दीखता है। परन्तु वह है एक, समस्त विटपके जीवनका आधार और समस्त अस्तित्वका प्राण। वैज्ञानिकोंने अभी आत्मसत्तापर प्रयोग नहीं कर पाया है। प्रेतावस्थाकी साक्षीतक ही अभी उनके प्रयत्न सफल हुए हैं। परन्तु हम यह दिखा आये हैं कि गुणोंका समूह चाहे कितना ही भिन्न

---

*ऊर्ध्व मूलमधः शाखं अश्वत्थः प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद सवेदवित्॥

हो, वस्तुएँ कैसी ही अलग दीखती हों पर सत्ता एकही हो सकती है और वह अनन्त ही हो सकती है। यदि हम आत्म और अनात्म दोनोंके अज्ञातृत्व और अन्य निषेधवाचक विशेषणोंको ही गुण मान लें तो आत्म और अनात्मकी सत्ताएँ पूर्व तर्कणानुसार भिन्न नहीं रह जातीं। हमें लाचार हो दोनों-को एकही मानना पड़ता है, चाहे हम आध्यात्मिक वादसे काम लें चाहे आधिभौतिक परीक्षासे। अन्ततः श्रुतिका यही वाक्य पक्का ठहरता है—
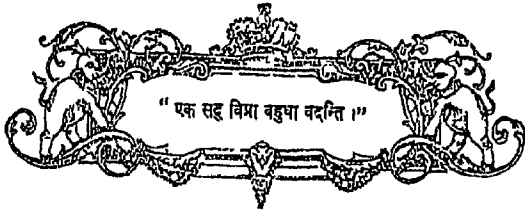
सातवाँ प्रकरण

व्यावहारिक वेदान्त

आधुनिक विज्ञान और प्रकृतिके रहस्य—संसारका बचपन—इतिहास नीति और विज्ञानका सम्बन्ध—विकासवाद और मानव-विकासमें भ्रम—भारी भ्रमसे अवतरण—हिन्दुओंका विकासवाद—सच्चिदानन्द होनेकी इच्छा—शंकर और रामानुजमें अन्तर—अनेक मार्गोंका एक ही उद्देश्य—मानवजीवनका मुख्य उद्देश्य—मनुष्य अपने विचारोंका पुतला है—पाप पुण्यकी सापेक्षता—उपदेशकोंको चेतावनी—विषयवासनाकी निष्पत्ति—भक्ति और ज्ञानके मार्ग—उपासना एक वैज्ञानिक प्रयोग है—केवल सिद्धान्तका जान लेना ही लाभकर नहीं है उसका अनुसरण भी आवश्यक है।

चालीस बरस पहले विज्ञान शुष्क समझा जाता था। वैज्ञानिक प्रकृतिको ही मानते थे। चार्वाककी नाईं उनकी दृष्टिसे आत्मा प्रकृतिका ही रूपान्तर था, परलोक और जन्मान्तरमें तो अब भी सन्देह है। पर इधर पचास वर्षोंमें अनेक अद्भुत खोजोंसे विज्ञान-विदग्धोंकी आँखें खुल गयीं और जो पहले समझते थे कि प्रकृतिके रहस्य हमको हस्ता-मलकवत् हो गये हैं वही अब प्रत्यक्ष देखते हैं कि—"ज्यों कदलीके पातमें पात पातमें पात, त्यौंहि प्रकृतिकी बातमें बात बातमें बात।"

उन्हें नित्य यह विश्वास होता जा रहा है कि प्रकृतिका रहस्य अभी अनन्त है और अनेक इसके कायल हो गये हैं—

"कि कस् न कुशूदो नुकशायद् ब-हिकमत् ई मुअम्मारा"

यह पहेली किसी हिकमतसे न हल हुई है न होगी। प्रकृतिकी थाह बुद्धिसे नहीं लगने की, क्योंकि बुद्धि तो आप प्रकृतिका एक अंश है। परन्तु जहाँतक बुद्धि पहुँचती है अद्वैत-वादकी क़ायल होती जाती है। एकताके सबूतपर सबूत मिलते जा रहे हैं। यद्यपि एकतातक वस्तुतः पहुँच जाना अपना आपा खो बैठना है तथापि अनुमानकी ऐनकके सहारे दूरसे बुद्धिकी धुँधली निगाहको भी एकताका तेजोमय रूप प्रकृतिके परदेको फाड़कर चकाचौंधमें डाल देता है। बस, उसके कदम आगे नहीं बढ़ सकते। बार बार हटकर बुद्धि अपने पीछे देखती है, आँचपड़ताल करती है, एकताकी अलौकिक ज्योतिके बलसे अदृष्टपूर्व विस्तारसे अपनी जानकारी बढ़ाती जाती है, परन्तु आगे जानेमें (बुद्धि) जिब्रईलके पर जलते हैं।

विज्ञानने इधर सौ बरसोंमें प्रकृतिकी एक बड़ी अद्भुत लीला देखी। उसने देखा कि समस्त प्रकृति सृष्टिकी आदिसे ही धीरे धीरे उन्नति कर रही है। नित नये रूप बदल रही है, नित नये स्वांग निकाल रही है। सृष्टिके मश्कके तख्तेपर अपना हाथ फेरती जाती है, अच्छेसे अच्छे रूप और गुणकी रचना करनेमें समर्थ होती जाती है। अरबों बरसके तजरबेसे आज उसने वर्त्तमान मनुष्यका रूप बना पाया है। वर्त्तमान सभ्यता इसी प्रकृतिका विकास है और रंग ढंग कहता है कि इस तरह उन्नति करते करते न जाने कैसी उन्नत दशामें प्रकृति इस सृष्टिको पहुँचावेगी। इस तरह विज्ञानने साथ ही यह

भी देखा कि जगत्का होनहार बड़ा अच्छा है, अनेक वैज्ञानिकोंने उसके भविष्यकी कुंडली बनायी है, और यद्यपि कई उसकी आकस्मिक मृत्यु आदिका भय बताते हैं तथापि अधिकांशका यही कहना है कि जगत्की आयु इतनी बड़ी है कि जितने बरस उसकी उत्पत्तिके बीत गये हैं—अरबों बरसका जमाना—उसके दूध पीनेके दिन थे, अभी तो पूरे दाँत भी नहीं आये, अभी उसने तोतले शब्द कहने सीखे हैं, उसकी आयु बहुत बड़ी है, दुनिया बूढ़ी नहीं हुई अभी बच्चा है। चन्द ही सालमें दुनियाका अन्त बताकर क़यामत ढानेवाले सचेत हो जायँ और सतयुगकी राह तकनेवाले निराश न हों। विश्वके हाथकी रेखाएँ देखकर विचार करनेवाले गणितज्ञ वैज्ञानिक ज्योतिषीका पूरा समर्थन करते हैं और सृष्टिका भविष्य आशापूर्ण और उज्ज्वल बताते हैं।

ऐसी स्थितिमें विज्ञानके सामने बार बार यह प्रश्न आया है कि इस सृष्टिका वा मानव-जीवनका ही क्या उद्देश्य है। यह समस्त सृष्टि किसी मार्गसे मुद्दतसे चली आ रही है और इस मार्गका यद्यपि कहीं ओरछोर नहीं दीखता तथापि जिस रीतिसे यह यात्रा हो रही है उससे क्या यह नहीं जान पड़ता कि इस मार्गके अन्तमें कोई बड़े मारकेकी बात होगी जिसका लक्ष्य सबको प्रेरित कर रहा है? यह प्रश्न बड़े महत्त्वके हैं, क्योंकि यदि यह मालूम हो कि हम कहाँ जायँगे, तो हम कोई पासकी राह ले सकते हैं, मार्गका "सम्बल" सँभाल सकते हैं, किसीसे सुभीतेकी सलाह ले सकते हैं, नहीं तो

"बांस पुरान साज सब अठकठ सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल जड़ करम कुटिल चँद मन्द मोल बिन डोला रे॥

विषम कहार मार मद माते चलहिं न पाउँ बटोरे रे ।
मन्द विलन्द अभेरो दलकनि पाइय दुख झकझोरे रे ॥
कांट कुराय लपेटन लोटन ठावँ ठावँ बझाऊ रे ।
जस जस चलिय दूरि तस तस मग बासन भेंट लगाऊ रे ॥
मारग अगम संग नहिं संबल नावँ गावँ कइ भूला रे ।
तुलसिदास भवत्रास हरहु प्रभु होहु राम अनुकूला रे ॥

जैसे "क्या था और कैसा था" इन प्रश्नोंका उत्तर इतिहास समझा जाता है, "क्या और कैसा होना चाहिए," इन प्रश्नों-का उत्तर नीति और धर्मशास्त्र है, उसी तरह "क्या है और कैसा है," इन प्रश्नोंका उत्तर ही विज्ञान समझा जाता है। स्थायी तथ्योंको लेते हुए विज्ञान जिस प्रकार ज्ञात इतिहास-की सीमाओंका अतिक्रमण कर जाता है उसी तरह जीवन-मात्रपर विचार करते हुए नीति और धर्मशास्त्रके क्षेत्रमें भी उसका प्रवेश होता है और जैसे स्वास्थ्यके लिए डाक्टरकी राय बिना काम नहीं चलता वैसे ही आधुनिक योगक्षेमके लिए विज्ञानको भी बुलाना ही पड़ता है। सारांश यह कि क्या है और कैसा है इन प्रश्नोंके उत्तरसे ही उसे छुटकारा नहीं मिल जाता उससे यह भी पूछा जाता है कि तुम्हारी रायमें क्या और कैसा होना चाहिए।

विकास-सिद्धान्तका निष्कर्ष

विविध वैज्ञानिकोंने विविध भाँतिसे इस प्रश्नका उत्तर दिया है। विकासवादियोंकी यह धारणा है कि प्रकृतिमें चुनावका नियम चलता है जो अधिक बलवान है वह निर्बलों-का अन्त कर देता है। सबलों और निर्बलोंका संघर्ष आदिसे ही चल रहा है। निर्बल नष्ट हो जाता है सबलकी वृद्धि होती है।

इसे योग्यतमावशेषका नियम कहते हैं। इसमें प्रेम, या करुणा या दयाका तो कोई स्थान ही नहीं, बल्कि अहिंसा भी पास नहीं फटकने पाती। बलवानके व्यक्तिगत स्वार्थके आगे समस्त निर्बल संसारको सिर झुकाना पड़ता है। इसीलिए विकासवादियोंके निकट संसारका स्वार्थपर होना ही स्वाभाविक है और अपनी रक्षा तथा अपने सुखके लिए भरपूर बल लगाना व्यक्तिका परम धर्म है, परम उद्देश्य है।

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारा रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥

योग्यतमावशेषकी ऐसी व्याख्या बहुत संकुचित पक्षकी है। संततिपर दम्पतिका प्रेम नन्हेसे नन्हे जीवोंसे लेकर मनुष्यतक पाया जाता है। समय समयपर स्वजातीयपर दया, निर्बलकी सहायता और रक्षा यह बात भी चराचर जीवमात्रमें देखी गयी है। ज्यों ज्यों शरीर और शारीरिक जीवनमें विकास होता जाता है त्यों त्यों इन गुणोंकी मात्रा भी बढ़ती जाती है। मनुष्य-शरीरमें योग्यतमावशेषवाला पाशविक नियम नहीं रह जाता। जीवनसंघर्ष है और अवश्य है पर वह संघर्ष नहीं जो पशु पशुमें था। मनुष्यका जीवनसंघर्ष प्रकृतिके साथ है, परिस्थितिके साथ है उसके सजातीयके साथ नहीं। इस सम्बन्धमें भारीभ्रमसे शान्तिवादी लेनका निम्न अवतरण पढ़ने योग्य है—

"मनुष्यके लिए जीवनप्रयासका नियम उसी प्रकार लागू है जैसे और शरीरधारियोंके लिए, किन्तु मनुष्यका रगड़ा संसारसे है, मनुष्य मनुष्यके बीच नहीं है।

कहावत है कि जीव अपने सजातीयको नहीं खाता। सिंह भी सिंहको नहीं खाता वह औरही प्राणियोंका शिकार करके

जीता है। यह पृथ्वी-ग्रह ही मनुष्यका शिकार है। मनुष्यका प्रयास—मानव समाजरूपी शरीरका प्रयास—संसाररूपी परिस्थितिके प्रति है—अपने ही भिन्न भिन्न अंगोंसे नहीं है।*

यह भूल यों होती है कि एक ही मानव-जातिरूपी शरीरके भिन्न भिन्न अंगोंमें जो अपूर्णता दिखती है उसे लोग अलग अलग शरीरोंमें परस्पर विरोध समझ लेते हैं। आधी सदीसे कुछ ही अधिक हुआ होगा कि ब्रिटेन दो करोड़ प्राणियोंको भी सुखपूर्वक नहीं रख सकता था, वही अब चार करोड़ प्रजाका अधिक सुखपूर्वक पालन करता है। यह बात स्काट इंग्लिश वेल्श और ऐरिश जातियोंके परस्पर आक्रमणसे नहीं हुई किन्तु इसीका उलटा हुआ, अर्थात् इनमें परस्पर और बाहरी जातियोंसे भी सहकारिता अधिकाधिक घनिष्ट हो गयी, उसका ही यह फल है।

"समस्त मानवजाति शरीर है और यह पृथ्वीग्रह उसकी परिस्थिति है जिससे वह दिनपर दिन अधिक परिचित, अभिज्ञ और अनुवर्त्ती होता जा रहा है"—यही बात उपस्थित सत्य घटनाओंसे मेल खाती है। यदि मनुष्योंका परस्पर

---

* फ्रांसमें नविको महाशय का रचा एक ग्रंथ "Le Darwinisme Social (Felix Alcan, Paris) नामक निकला है जिसमें समाजविज्ञानमें डारविनके इस सिद्धान्तके प्रयोगपर बड़ी योग्यतासे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है और जिस जीववैज्ञानिक पक्षका ऊपर वर्णन हुआ है उसका नविकोके ग्रंथमें अच्छा पृष्ठपोषण हुआ है। मनुष्यसमाजपर जीवविज्ञानके नियमोंका वास्तविक प्रयोग तो विशेषतः अध्यापक कार्ल पियरसनने स्पेंसर और हक्सलेके सिद्धान्तोंको शुद्ध करनेमें बरात पहले ही किया था। ("The Grammar of Science," pp. 433-438. Walter Scott, London)

रगड़ा ठीक समझा जाय तो बटनाएँ समझमें नहीं आतीं प्रत्युत् असम्बद्ध दीखती हैं, क्योंकि मनुष्य झगड़ोंसे हटता जाता है, शारीरिक बलके प्रयोगसे दूर होता जाता है, वरन् सहकारिताकी ओर उसका अधिकाधिक बढ़ता जाना निर्विवाद है, जैसा कि निम्नलिखित घटनाओंसे सिद्ध होगा।

किन्तु यदि मनुष्योंमें परस्पर अपने प्रतिस्पर्द्धीका नाश कर देना ही जीवनका नियम है, तो यों समझना चाहिए कि मानवजाति प्रकृतिके नियमकी अवहेलना कर रही है और अवश्य नाशके मार्गपर होगी।

सौभाग्यवश इस विषयमें प्रकृतिके नियमको समझनेमें भूल हुई है। समाजवैज्ञानिक दृष्टिसे कोई व्यक्ति सर्वांगपूर्ण शरीर नहीं समझा जा सकता। जो अपने सजातियोंके संसर्गके विना ही जीवन बितानेका प्रयत्न करता है वह मर जाता है। राष्ट्र भी सर्वांगपूर्ण देह नहीं है। अन्य जातियोंकी सहकारिता बिना ही यदि ब्रिटेन जीवित रहनेका प्रयत्न करे तो आधी आबादी भूखों मर जायगी। सहकारिता जितनी ही पूर्ण हो उतनी ही जीवन शक्तिकी वृद्धि समझनी चाहिए। सहकारिता जितनी ही अपूर्ण होगी उतनी ही कम जीवनशक्ति भी होगी। जिस शरीरके भिन्न भिन्न अंग ऐसे अन्योन्याश्रित हों कि विना सहकारिता जीवनका ह्रास वा क्षय हो जाय, उस शरीरको इस विषयमें स्पर्द्धी वा विरोधी शरीरोंका समूह न समझना चाहिए वरन् एकही शरीर जानना चाहिए। अपनी परिस्थितिसे रगड़ा करनेका प्राणियोंका स्वभाव ही है और उपर्युक्त बात इसके अनुकूल ही है। शरीरधारी जितना ही ऊँचे दरजेका होगा उतना ही उसके अंगोंमें अन्योन्याश्रय

और विकट सम्बन्ध होंगे—और उतनी ही सहकारिताकी भी आवश्यकता होगी।*

यदि जीववैज्ञानिक नियमका अर्थ यों समझा जाय तो सब बातें स्पष्ट हो जायँ। विरोधसे मनुष्यकी अनिवार्य्य निवृत्ति और सहकारितासे विवश प्रवृत्ति इस बातको प्रकट करती है कि मानवजाति रूपी शरीर अपनी परिस्थितिका अधिकाधिक स्वामी होता जाता है और इस तरह उसकी जीवनशक्ति बढ़ती जाती है।

पूर्वोक्त नियम जीववैज्ञानिक रीतिसे वर्णन किया गया है। इन रीतियोंसे मनुष्यके जीवनप्रयाससे जो आध्यात्मिक अभ्युदय सम्मिलित है, उसका सबसे अच्छा वर्णन उसकी वृद्धिके स्थूल विवरणमें बड़ी उत्तमतासे हो जायगा।

डारविनके सिद्धान्तानुसार मानवी सृष्टिकी आदिमें मनुष्यका साधारण स्वभाव मनुष्य-भक्षक था। अगले मनुष्य राक्षस वा मनुजाद थे। मान लो कि किसी मनुजादने अपने बन्दीको मार डाला। यह स्वभावानुकूल होगा कि वह उस नरमांसको अपने लिए ही रखे, दूसरोंको न दे। शक्तिके प्रयोगका यह प्रचंड रूप है और मनुष्यके स्वार्थका सबसे नीच भाव है। किन्तु सारा मांस एक ही दिनमें खाया जाना

---

* सहकारितासे स्पर्द्धामें रुकावट नहीं पड़ती। यदि कोई प्रतिस्पर्द्धी कारबारमें हमसे बढ़ जाय तो उसका कारण यही है कि वह हमारी अपेक्षा अधिक सफल सहकारिताका प्रयोजन कर सकता है। किन्तु यदि चोर कुछ चुरा ले जाय तो वह सहकारिता करता ही नहीं, बल्कि उसकी चोरीसे हमारी सहकारिताका बहुत कुछ प्रतिरोध होगा। मानवसमाज रूपी शरीरका सब कुछ स्वार्थ इसमें ही है कि वह स्पर्द्धाको प्रोत्साहित करे और मुफ्तखोरोंको दबावे।

सम्भव नहीं था, अतः वह सड़ने लगा और खाने योग्य न रहा और मनुजाद भूखों मरने लगा। जो लोग यह कहा करते हैं कि मनुष्य स्वभाव नही बदलता उनकी भूल दिखानेको इस वीभत्सका वर्णन आवश्यक है, अतः पाठक क्षमा करें।

वह मनुजाद जिस समय भूखों मर रहा है उसी कालमें उसके दो पड़ोसियोंकी भी ठीक वही दशा है और यद्यपि पूर्वोक्त मनुजाद अपने भोज्यकी रक्षामें शारीरिक दृष्टिसे सम्पूर्ण समर्थ था तो भी उसके स्वाभाविक नाशके (सड़नके) रोकनेमें असमर्थ होनेसे यों प्रबन्ध करना पड़ा कि दूसरी बेर तीनोंने मिलकर एक बार एक ही बन्दीको मारकर बाँट खानेका निश्चय किया। पहलेके बन्दीसे दोनों पड़ोसियोंने भाग लिए और दूसरे दिन अपने बन्दीसे पहलेको भाग दिये। अब मांस सड़ने नहीं पाता। यह सबसे पहला दृष्टान्त है जिसमें संसारमें शारीरिक बलको सहकारिताके आगे सिर झुकाना पड़ा। अन्तको जब तीनोंके तीन बन्दी दस बारह दिनमें समाप्त हो गये और खानेको न रहा तो यह बात सूझी कि यदि हम इन्हीं बन्दियोंको जीता रखते तो इनसे अपने लिए शिकार कराते और कन्दमूल खुदवाते। निदान अब जो बन्दी मिले तो मारे नहीं गये—यह भी शारीरिक बल-प्रयोगकी कमी ही हुई—किन्तु दास बना लिये गये। जिस स्वार्थकी प्रवृत्तिसे पहले मारे जाते थे उससे ही अब सेवामें लगाये जाते हैं। तब भी युद्धकामनाके साथ समझदारी इतनी कम खर्च की गयी कि दास भूखों मरने लगे और उपयोगी कामके लिए सर्वथा अशक्य हो गये। अब उनसे धीरे धीरे अच्छा बर्ताव होने लगा और युद्धकामना घटने लगी। दास भी इतने सध गये कि बिना देखरेखके कन्दमूलकी खुदाई करने

लगे और उनके स्वामी देखरेखके समयको शिकारमें लगाने लगे। जो झगड़ालूपन पहले दासोंपर खर्च होता था अब और जातिके वैरियोंसे उन्हें बचानेमें खर्च होता है। यह बात कठिन भी थी क्योंकि दासोंमें स्वयं एक स्वामीके यहाँसे दूसरेके यहाँ चले जानेकी प्रवृत्ति बहुधा देखी जाती थी। इसलिए राजी रखनेको उनसे और भी अच्छा व्यवहार किया जाने लगा। शक्तिप्रयोगमें यह और भी कमी हुई, और सहकारितामें और भी वृद्धि हुई। दासोंने उनके लिए मजूरी की और स्वामियोंने उन्हें भोजन दिया और उनकी रक्षा की। ज्यों ज्यों जातियोंकी वृद्धि हुई त्यों त्यों यही बात पायी गयी कि जिस जातिमें दासों-को जितना ही अधिकार जितना ही सुख दिया गया उतनी ही उन जातियोंमें वृद्धि और दृढता हुई। धीरे धीरे दासत्वने रैयत वा असामीका रूप ग्रहण किया। स्वामीने भूमि दी और रक्षाका प्रबन्ध किया और रैयतने स्वामीके लिए मजूरी की और उसका सैनिक हुआ।* शारीरिक बलके प्रयोगसे मानव जाति और भी हट गयी और मिलजुलकर काम करने-की और अदलाबदलीकी रीति और भी बढ़ी। जब सिक्के चले बलका रूप भी बदल गया और रैयत लगान देने लगी, सैनिक तनख्वाह पाने लगे। अब दोनों पक्षमें स्वच्छन्दतासे अदलाबदली होने लगी और शारीरिक बल आर्थिक शक्तिसे बदल गया। ज्यों ज्यों बलप्रयोगसे साधारण आर्थिक सुबीते-की ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति होती गयी त्यों त्यों व्यवसायका

---

* यद्यपि यह दृष्टान्त भारतवर्षके इतिहास, दशा और सभ्यताके अनुकूल नहीं है तथापि अँगरेज आदि जातियोंकी दशासे, जिनके यहाँ विकासवादका दुरुपयोग हुआ है, इस दृष्टान्तका विस्तार पूर्णतया मिलता है। अंगरेज किसान पहले जमीदारोंके दास थे। भारतवर्षमें दासत्वकी ऐसी प्रथासे किसानोंकी उत्पत्ति नहीं हुई है।

अधिकाधिक प्रतिफल मिलने लगा। तातारी ख़ान जो अपने राज्यका धन ज़बरदस्ती लूट लेता था अब लूटनेको कुछ पाता ही नहीं क्योंकि जिस धनसे लाभ नहीं हो सकता उसके उपार्जनके लिए मनुष्य उद्योग न करेंगे। अतः ख़ानको अन्ततः किसी धनीकी अनेक दुर्यातना करके मार डालनेपर भी उस धनका सहस्रांश न मिल सकेगा जो लण्डनका कोई व्यापारी बलप्रयोगाधिकार-हीन उपाधिके प्राप्त करनेमें ख़ुशीसे ख़र्च कर देगा और वह उपाधि भी ऐसे शासकसे ऐसे महाराजाधिराजसे मिलेगी जो बलप्रयोगका कोई भी अधिकार न रखते हुए संसारके सबसे धनी साम्राज्यका स्वामी है और जिसका धन ऐसे उपायोंसे इकट्ठा हुआ है जिनसे बलप्रयोगसे कोई सरोकार ही नहीं है।

जाति वा उपजातिके भीतर ही भीतर यह सिलसिला जिस समय बराबर जारी रहा उसी कालमें भिन्न भिन्न राष्ट्रों वा जातियोंमें जो परस्पर बलप्रयोग वा द्वेषभाव था वह दूर नहीं हुआ, पर उसमें कमी अवश्य आयी। पहले तो यह बात थी कि झाड़ीके भीतरसे अपने वैरी जातिवालेका धूलि-धूसरित सिर दिखाई दिया नहीं, कि इधर राइफलके तीरका निशाना बन गया, क्योंकि वह "पर"* है अतः मारणीय है। कुछ दिन पीछे यह दस्तूर हो गया कि अपनी जातिवालोंसे लड़ाई हो तभी उसे मारनेका प्रयत्न किया जाय। ऐसे भी अवसर आने लगे जिसमें शान्ति होती थी शत्रुतामें कमी होती थी। पहलेके युद्धोंमें वैरीकी स्त्रियाँ बच्चे बूढ़े सभी मारे जाते थे। बल और युद्धकामना अनियन्त्रित होती तो है किन्तु ज्यों

---

* संस्कृतमें "पर" का अर्थ "शत्रु" सम्भवतः इन्हीं कारणोंसे हो गया है।

ज्यों दासोंसे मजूरीका और दासियोंसे उपस्त्रीका काम लिया जाने लगा युद्धकामना घटती गयी, बलप्रयोग कमता गया। वैरीकी स्त्रियाँ विजेताके पुत्र उत्पन्न करने लगीं, झगड़ालूपन और भी घटा। वैरीकी वस्तीपर जो फिर चढ़ाई की गयी तो मिला कुछ नहीं क्योंकि लूटमारसे कुछ बचा ही न था। अतः वैरियोंके सरदारको ही मारकर सन्तोष किया—युयुत्सामें और भी कमी आयी, संवेगका और भी ह्रास हुआ। या वैरियोंसे देश छीनकर अपने लोगोंमें बाँट दिया—जैसा नारमन विजेताओंने किया था। अब मनुष्य सर्वनाश करनेके दरजेसे† आगे बढ़ गये। अब विजेता विजितको केवल अपनेमें मिला लेता है*—वा विजित ही विजेताको अपनेमें मिला लेता है, जैसा समझ लिया जाय। अब एक दूसरेको चट कर जानेकी बात नहीं रही। दोनोंमें एक भी निगला नहीं जाता। इसके

---

† जीवविज्ञानके टेढ़े दृष्टान्तोंकी सहायता बिना ही, संसारकी साधारण घटनाओंसे ही यह स्पष्ट है कि संसारमें योग्यतमका जीवित बच जाना मनुष्यकी युयुत्सा-वृद्धिके किसी कालमें सिद्ध भी था, तो भी वह समय अब अत्यन्त दूर चला गया है। आजकल जब हम किसी जातिको जीतते हैं, तो उसका सर्वनाश नहीं करते। उसे ज्योंकी त्यों रहने देते हैं। सबल निर्बल जातियोंको जीत लेते हैं उन्हें नष्ट करनेके बदले उनमें सुव्यवस्था करके बढ़नेका अवसर देते हैं जिसका फल यह होता है, कि उच्च गुणोंके द्वारा विजित हो जानेसे नीच गुणोंकी रक्षा हो जाती है, नष्ट नहीं होने पाते। अमेरिका और फिलिपैनका सम्बन्ध इसका उदाहरण है। जिन राष्ट्रोंमें मोटे हिसाबसे बराबर ही वृद्धि हुई है उनमें भी युद्ध होनेसे अयोग्यकी रक्षा हो जाती है क्योंकि विजित जातिका अब सर्वनाश नहीं किया जाता, किन्तु उनमें जो सबसे योग्य होते हैं तथा विजेताओंमें जो सेनाके लिए योग्यतम होते हैं, उभयपक्षमें उनका ही नाश होता है, और दोनों ओरके निकम्मे ही बच जाते हैं और वंश चलाते हैं।

* भारतवर्षमें भी हिन्दुओंमें इसी प्रकार यूनानियों, मगों, पारसियों, शाकद्वीपियों, हूणोंका ऐसा मेल हो गया है कि सहसा जातिभेद ध्यानमें नहीं आता।

अनन्तर विजेता अपने वैरी राजाको बेदख़ल नहीं करता, वरन् उसपर कर लगा देता है—यह बलप्रयोगमें और भी कमी हुई। किन्तु विजेता राष्ट्रकी दशा अपने ही राज्यमें ख़ता और ख़ुतनके ख़ानकी सी हो जाती है, जितना ही वह निचोड़ता है उतना ही कम पाता है, यहाँतक कि अन्तको जो कुछ मिलता है उससे भी अधिक उसके पानेके लिए सेनामें ख़र्च हो जाता है। स्पेनिश अमरीकामें स्पेनकी जो दशा हुई—जितना अधिक उसका राज्य बढ़ता था उतना ही स्पेन दरिद्र होता जाता था—वही दशा हो जाती है। अब बुद्धिमान् विजेताको यह सूझती है कि कर लेनेकी जगह यदि उस देशके बाज़ारपर अपना इजारा कर लिया जाय तो अधिक लाभ होगा—जिस सिद्धान्तपर अँगरेज़ोंने उपनिवेशोंकी पुरानी रचना की (और भारतवर्षको हड़प बैठे)। किन्तु इजारेकी रीतिमें लाभके बदले हानि अधिक हुई।† इसपर उपनिवेशोंको अपनी अपनी ही रीति चलानेकी आज्ञा दी गयी, इस तरह बलप्रयोगमें और भी कमी आयी, विरोध और झगड़ालूपन और भी घटा। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि बलप्रयोग एकदम छोड़ दिया गया, अब परस्पर लाभवाली सहकारिताका ही सम्बन्ध रह गया—सो केवल उपनिवेशोंमें ही नहीं जो परराज्य बन गये हैं, किन्तु उन राज्योंमें भी जो नाममात्रको वा वस्तुतः पराये हैं। अब मनुष्यों-में परस्पर कठिन रगड़ेकी दशा नहीं है। हम ऐसी दशाको पहुँचे हैं कि परदेसियोंके सुखी रहनेपर ही हमारी जीविका वा

---

† अँगरेज़ोंकी इस नीतिका फल यह हुआ कि अमरीकाका वह अंश जो अब संयुक्तराज्य कहलाता है, सवा सौ बरससे अधिक हुए, उनके हाथोंसे निकल गया। भारतमें रेल आदि इसी प्रकारके अँगरेज़ी इजारे हैं।

जीवन है। यदि इंगलैंड किसी जादूसे समस्त विदेशियोंको मार डाले तो उसकी आधी प्रजा भूखों मर जाय। ऐसी दशामें परदेसियोंसे बहुत दिनोंतक विरोध रह नहीं सकता। किसी गम्भीर जीववैज्ञानिक नियमसे वा आत्मरक्षाके सच्चे भावसे ही ऐसे विरोधका कोई न्याय्य कारण समझा जाय, ऐसी भी कोई स्थिति नहीं है। ज्यों ज्यों शरीरके अंग प्रत्यंगका अन्योन्याश्रय नवीन रीतिसे घनिष्ठ होता जाता है, त्यों त्यों वह आध्यात्मिक अभ्युदय आवश्यक है जो आदिसे ही मानव प्रकृतिके इतिहासपट्टपर अंकित होता आया है—उस दिनसे जब मनुष्य अपने बन्दीको मारकर खा जाते थे और साथियोंतकमें बाँटना अस्वीकार करते थे, आजतक जब कि तार और बंकने, आर्थिक रीतिसे, सैन्यबलको बिलकुल निरर्थक कर दिया है।*"

प्रस्तुत विचारोंसे कोई ऐसा न समझले कि विकासवाद एकदम नयी बात है, डारविनके दिमागकी ही उपज है। डारविनको सुझानेवाले अफ्रिकाके पादरी थे जिन्होंने वहाँके बनमानसों और जंगली मनुष्योंमें बड़ा सादृश्य पाया था और—जैसे साधारण गोरी सभ्यतावाला अपनेको ही मनुष्य समझता है और अ-गोरी जातियोंको मनुष्यकोटिमें गिनता ही नहीं, और जैसे अबतक अधिकांश भारतीय गोरी जातियोंको निजटाकी सन्तान समझा करते हैं, उसी तरह—यह निष्कर्ष निकाला था कि अफ्रिकाके मनुष्य वानरसे ही उत्पन्न

* सम्प्रति महायुद्धमें जर्मनोंकी हार और सन्धि तथा दर्जनों छत्रधारियोंका राजत्याग आदि बलप्रयोगके कारण नहीं परन् शुद्ध आर्थिक और सामाजिक शक्तियोंके कारण हुआ है।

हुए होंगे। मनुजादों, वनमानसों और वानरोंसे और मनुष्योंसे प्राचीन सम्बन्ध हमारे यहाँ कोरी कल्पना नहीं है, ऐतिहासिक बात है—वह भी दो चार हजार बरसका इतिहास नहीं, युगों पहलेकी बात है, जहाँ आधुनिक पाश्चात्य कल्पना और प्राच्य परम्परामें इतना घना सादृश्य है। सृष्टिकी घटनाओंके और अवतारोंके क्रमके विश्लेषणपूर्वक अध्ययनसे विकासका पूरा पता लगता है। एक स्थलपर हक्स्ले इन बातोंको इन शब्दोंमें मानता है कि "हिन्दू ऋषियोंकी तो चर्चा ही क्या जो तारसा (टार्सस) निवासी पालके जन्मके युगों पहले विकास सिद्धान्तसे पूर्ण परिचित थे।"

वैष्णवोंमें श्रीसम्प्रदायके आचार्य्य रामानुजस्वामीने बड़ी योग्यतासे विकासको सिद्ध किया है। सांख्यकारने भी सृष्टिका विकास दिखाया है। योगसूत्र "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्" से* यह स्पष्ट है कि जीवात्मामें प्रत्येक शक्ति पहलेसे ही विद्यमान है, चींटीमें वही शक्तियाँ हैं जो ब्रह्मामें प्रकट हैं। शक्तिकी नदी सब जगह वेगसे बहती है जो किसान अपने खेतका बाँध हटायेगा उसके खेतमें जल तुरन्त भर आयेगा। यही आन्तरिक शक्ति हमारे यहाँ विकासका हेतु मानी गयी है। हिन्दू विकासवादमें और डारविनके विकासवादमें यह अन्तर अवश्य है कि डारविनने जीवनका रगड़ा विकासका हेतु माना है और हिन्दूने आन्तरिक शक्तिको हेतु समझा है। मनुष्येतर योनियोंमें जीवनसंग्राम देखकर ही डारविनने भूल की, कार्य्यको कारण समझ बैठा, वस्तुतः जीवनसंग्राम उसी प्रवृत्तिका कार्य्य है जो सृष्टिमात्रमें कूटस्थ है जो सारे खेल खिलाती और सब खोये कुटवाती है।

† पातञ्जल सूत्राणि पा० ४ सू० ३।

श्रीरामानुजाचार्य्यके अनुसार नीचसे नीच योनिमें आत्माकी दशा अत्यन्त दबी हुई कमानीके समान है जिसमें प्रसारकी बड़ी प्रबल प्रवृत्ति है, शक्तियोंके घनीभवनके कारण प्रसारका होना ही स्वाभाविक और आवश्यक है। प्रसारके बदले संकोच उत्पन्न करनेके जो कारण उपस्थित होंगे वही अधर्म वा पाप समझे जाने चाहिएँ। ऊर्ध्वगति स्वभावसिद्ध है, अधोगति अस्वाभाविक है और घोर पापकर्मसे ही हो सकती है।

"धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण"

अविद्याके कारण नीच योनियोंमें जब स्वाभाविक विकासके मार्गमें बाधाएँ उपस्थित होंगी, रुकावटें आड़े आवेंगी, तभी जीवन-संग्रामका दृश्य सामने आवेगा। वेगवती तरंगिणीकी राहमें जबतक चट्टानोंकी रुकावट नहीं है, चुपचाप धारा बहती जाती है, चट्टानोंने बीचमें रुकावट डाली कि धारा कुछ देरके लिये रुकी, परन्तु धीरे धीरे बल एकत्र करके चट्टानको मारे थपेड़ोंके रेत कर डालती है और घोर नाद करती और तटोंको बहाती दूने वेगसे समुद्रको जाती है। इस अवरोधको ही देखकर पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने जीवन-प्रयास तथा योग्यतमावशेषका इसे हेतु समझ लिया।

नीच योनियोंसे जीवका विकास होते होते मानव योनितक पहुँचा है। इस योनिको ही सम्प्रति सबसे उत्तम मानते हैं, इससे ही विकासका मार्ग प्रशस्त और अनिरुद्ध सा हो जाता है। जीवोंमें साधारणतया तीन प्रकारकी उच्चाभिलाषा होती है जो उसे उन्नतिकी ओर झुकाती है, तरक्कीकी राहमें लगाती है—सातत्य, सर्वज्ञता और सुख। सभी चाहते हैं कि हम सदा बने रहें, मरें नहीं, हमारा नाश न हो जाय। इसके

लिये सच्चे झूठे जितने उपाय सूझते हैं मनुष्य सभी करता है—यही सातत्यकी कामना है। सब कुछ जाननेकी इच्छा सबके मनोंमें होती है और उसके लिये अपने बल भर सभी उपाय करते हैं। यही सर्वज्ञताकी इच्छा है। जिये तो सुखसे ही जिये और मरे भी तो जहाँ कहीं आत्मा जाय सुखी ही रहे, यह इच्छा ऐसी प्रबल है कि लोग गयाजीमें अपना श्राद्ध भी कर आते हैं। यही सुखकी इच्छा है। इस प्रकार इन तीनों इच्छाओंको साथ लिये हुए जीवात्मा शरीर परिवर्त्तन करता है। चराचर जीवोंमें इन्हीं इच्छाओंके अनेक रूपोंके चिह्न पाये जाते हैं। वनस्पतियोंके जीवनका जैसा अनुशीलन विज्ञानाचार्य्य सर जगदीशचन्द्र वसुने किया है, संसारमें प्रसिद्ध ही है। वनस्पतियोंमें भी ऐसी प्रवृत्ति पायी जाती है। अपने यहाँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंके हिसाब-से वनस्पतियोंकी सुषुप्ति और पशुओंकी स्वप्नावस्था बतायी है। अवस्थाभेदसे जैसे जाग्रत-अवस्था कर्मके लिए सबसे अधिक विकसित दशा है उसी तरह मानव शरीरकी उन्नतिके लिए सबसे अधिक विकसित शरीर है। मानवशरीरमें इन तीनों इच्छाओंका सबसे ज़्यादा ज़ोर है। इन इच्छाओंको दूसरे शब्दोंमें कहें तो क्रमशः सत्, चित् और आनन्द कह सकते हैं और यह भी कह सकते हैं कि जीवकी स्वाभाविक इच्छा सच्चिदानन्द होनेकी है।

जीवात्माकी सबसे ऊँची आकांक्षा यही हो भी सकती है कि वह सच्चिदानन्द हो जाय। सच्चिदानन्द उस आदर्शका नाम है जिसे आस्तिक हिन्दू ईश्वर, जैन तीर्थंकर और बौद्ध बुद्ध वा अर्हत् कहता है। परन्तु हम यह कह आये हैं कि जीवात्मा वा चेतन आत्म और अनात्मके संसर्गका फल है।

अतः उसकी ऊँचीसे ऊँची आकांक्षा उसको ईश्वरताकी हदतक ही पहुँचा सकती है और ईश्वरता भी प्रकृतिसे सविकार है, अविकार नहीं है।

इस स्थलपर यह कह देना भी उचित होगा कि जहाँ रामानुजस्वामीके मतसे विकासका होना जीवके लिए आवश्यक है, वहाँ भगवान् शङ्कर विकास नहीं मानते। बात ठीक ही है। विकास, प्रवृत्ति और निवृत्ति, वृद्धि और क्षय, यह बातें प्रकृतिकी हैं, घटना बढ़ना आदि विकार प्रकृतिमें ही सम्भव हैं, आत्मा पूर्ण, अखण्ड, अनन्त, अविकार, सनातन एक रस, अनिर्वचनीय और एक है, उसमें विकासकी कल्पनाकी गुंजाइश कहाँ है। शङ्करके मतसे आत्मा ही सत्य है, "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" "एकमेवाद्वितीयं", आदि आत्माकी एक सत्ताको ठीक और शेषको मिथ्या और अनित्य बताते हैं। प्रकृतिमें घटना बढना आदि स्वाभाविक है, परिवर्तन उसका धर्म्म है, जगत् और संसार नाम आप पुकार पुकारकर विकासकी दाद देते हैं और वृद्धि और ह्रासके नियमकी फर्य्याद करते हैं। जहाँ रामानुजस्वामी सालोक्य सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य चार प्रकारकी मुक्ति देते हैं, शङ्कराचार्य्य आत्माको सर्वथा मुक्त ठहराते हैं और बन्धनको भ्रममात्र बताते हैं। रामानुजस्वामीका जीव सत्चिदानन्द हो जाता है और शङ्करस्वामीका जीव रह ही नहीं जाता आत्मामें लीन हो जाता है, अपनी असलियतमें समा जाता है। किसी ईरानी कविने कहा है—

खिरद रा दोश् मी गुफ्तम् कि ए अक्सीर-दानाई।
हमत् बे मग़ज् हुशियारी हमत् बे दीद-बीनाई॥

च गोई दर् वजूदां कीस्त कीं शायस्तगी दारद् ।
कि तू बा आब रूए खेश ख़ाके पाय ओ साई ॥
ब गुफ्ता नूरें-मन कज़् बह्रे-ओ पेवस्त मी सोज़म् ।
चु रुख़ बिनमूद जां दर् बाख़्तम् अकनूं च फ़र्माई ॥

अनुवाद

बिन नैनन निरखति फिरति बिन इन्द्रिय तोहिं ज्ञान ।
हे बुधि तू केहि विधि भई असि विज्ञान निधान ॥
तोहूँ ते अतिही बड़ी कौन शक्ति बलवान ।
जाके पदरज सिर धरति तूहू सह सम्मान ॥
बोली सो हृदयेश मम सतत प्रकाशक भान ।
जरौं विरह, पै मिलत ही वारि देउँ निज प्रान ॥

मन् शमअ जाँ गुदाज़म्, तू सुब्ह दिल्कुशाई ।
सोज़म् गरत् न बीनम्, मीरम् चुरुख़नुमाई ॥
नज़दीकतीं चुनीनम् दूरां चुनां कि गुफ्तम् ।
नै ताब वस्ल दारम् नै ताक़ते जुदाई ॥

अनुवाद

मैं जलती दीपक सिखा तू सुखदेन विहान ।
विरह जरौं बिन तोहिं मिले, मिले देति हौं प्रान ॥
मिलिबेको साहस नहीं बिरह सहन नहिं होय ।
दूर इती जितनी कही लग इतने नहिं दोय ॥

अर्थात्, मैंने कल्ह बुद्धिसे पूछा कि तेरे इन्द्रियाँ नहीं, परन्तु पूरा ज्ञान है और आँखें नहीं पर सब कुछ देखती है, पर वह क्या शै है जिसके आगे तू भी सिर झुकाती है। वह बोली जिस हृदयेश्वरके विरहमें मैं नित जलती हूँ, जब उसके दर्शन होते हैं, अपने प्राण निछावर कर देती हूँ, उसके होते मैं नहीं रह जाती।

अपने आपेसे बढ़कर प्रेमपात्र कौन हो सकता है? जीव ज्योंही पीछे मुड़ता है अन्तरात्माके दर्शन होते हैं और वह तल्लीन हो जाता है, फिर जीवकी सत्ता ही नहीं रह जाती। सूर्य्यकी किरणें समस्त विश्वमें फैल रही हैं, प्रकाश ही प्रकाश है, सूर्य्यको ढूंढ़ती फिरती हैं, ज़रा पीछे मुड़ी, सूर्य्य ही सूर्य्य है फिर किरणें कहाँ हैं। किरणें तो सूर्य्यसे विलगताका ही नाम है। जीव अपने परम प्यारे अपने आपकी खोजमें मर रहा है। अपने प्यारेसे साक्षात्कार होते ही एक रत्ती और एक क्षणभर भी वियोग सह सकता है?

> मन तू शुदम् तू मन शुदी मन तन शुदम् तू जां शुदी।
> ता कस न गोयद बाद जीं मन दीगरम् तू दीगरी॥
> मैं तू हुआ तू मैं हुआ मैं तन हुआ तू जाँ हुआ।
> जिसमें न फिर कोई कहे मैं और हूँ तू और है॥

श्रीरामानुजाचार्य्यके अनुसार जीवकी सायुज्य मुक्ति भगवान्के अंगमें सम्मिलित हो जाना है, परन्तु भगवान् शंकरके यहाँ द्वैत ही नहीं, कौन अंगी और कैसा अंग। जब आत्माको छोड़ और कोई सत्ता ही नहीं तो बन्धन भी भ्रम ही ठहरा, झूठ ही बात है। जीव जिसे कहते हैं कभी बँधा ही नहीं, नित्य मुक्त है। यही बात है कि शंकरके यहाँ विकास सिद्धान्त नहीं है।

किसी मतको लीजिए, किसी सम्प्रदायके उद्देश्यपर विचार कीजिए, सबका उद्देश्य सच्चिदानन्द हो जाना किसी न किसी रूपमें अवश्य है। शंकरका अद्वैतवाद एक मंजिल ऊँचे ले जाता है, यही बात शंकरमें औरोंसे विलक्षण है। जब होमरूल या स्वराज्य या कलोनियल (औपनिवेशिक) स्वराज्यकी आकांक्षा है तो आगे जाकर सर्वथा स्वतंत्र हो जानेकी उच्चाभिलाषा होनी कोई आश्चर्य्यकी बात नहीं है। इसी तरह

जब ईश्वर-साक्षात्कार अथवा सामीप्य प्राप्त हो तो उस प्राणों-के प्राण, जीवोंके जीव, परम प्यारेसे एकदम एक हो जानेकी इच्छा भी क्या किसी तरह असंगत हो सकती है? इसीलिए यदि रामानुजादि कलोनियल स्वराज्यतक जाते हैं तो शंकर पूर्ण स्वायत्तता, पूर्ण स्वाधीनताके अन्ततक पहुँच जाते हैं। परन्तु व्यवहारमें यदि पूर्ण स्वाधीनताके लिए प्रयत्न न करके केवल औपनिवेशिक स्वराज्यके लिए ही कोशिशकी जाय तो पूर्ण स्वाधीनता चाहनेवालेसे व्यवहारमें कोई विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि दोनों एक ही मार्गसे चल रहे हैं, उसी मार्गमें किसी मंजिलपर औपनिवेशिक स्वराज्यवालेकी सराय पड़ेगी, पड़े, और जिसकी यात्रा वहाँ पूरी हुई ठहर जाय। पर पूर्ण स्वाधी-नतावालेको आगे बढ़नेमें बाधा ही क्या है? दोनोंके लक्ष्यमें अवश्य अन्तर होगा। बात यह नहीं है कि इन दोनों उद्देश्योंके अलग अलग मार्ग नहीं हैं। अलग अलग मार्ग हैं और अवश्य हैं, परन्तु हमारे कहनेका विशेषतः यह तात्पर्य्य है कि यदि दोनों एक ही मार्गसे चलें तो भी रास्ता खोटा होनेका नहीं है।

जब अधिकांश पक्षोंके अनुसार अपनी उन्नति ही सबका एक मात्र उद्देश्य है, जब हरएक सच्चिदानन्द ही होना चाहता है, वा उससे भी आगे बढ़ना चाहता है, तो इतना कहनेमें तो कोई कसर ही नहीं, विकासवादका ही निश्चय नहीं प्रत्युत सर्ववादिसम्मत है, कि जीवमात्र उन्नतिके उद्योगमें है, सारी प्रकृति विकास चाहती है। प्रकृतिके जड़ चेतन दोनों रूप दीखते हैं*। दोनों रूपोंसे उन्नति करते करते वह मनुष्ययोनि-

---

† भूमिरापोनलोवायु- खमनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयमे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्॥
भगवद्गीता अ० ७ श्लो० ४–५।

की मंज़िलतक पहुँची है। प्रकृतिकी ओरसे मनुष्य एक ख़ास मिशन लेकर आया है। उसका अस्तित्व प्रकृतिके किसी विशेष कार्य्यके लिए हुआ है और योनियोंमें चाहे वह प्रकृतिसे प्रेरित होकर ही उन्नति करता रहा हो परन्तु मानवयोनिमें जीव अधिक सचेत है, मिशनको समझता है। बड़े छोटे ऊँच नीचके भेद प्रभेद हमारे आपसके सामाजिक झगड़े हैं, प्रकृति के लिए महामारीका वाहन कृमि और महामारीका शिकार मनुष्य दोनोंकी प्रतिष्ठा बराबर है। जब सभी प्राणी सभी जीव अपने अपने उद्देश्य रखते हैं तो मनुष्य इस नियमका अपवाद नहीं हो सकता। मनुष्यजीवनका मुख्य उद्देश्य उन्नति ही है और वह उन्नति सभी दिशाओंमें, सभी विषयों में।

हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि जीवित शरीरके भीतर ज्ञात कर्म्मके अतिरिक्त अविज्ञात कर्म्म भी होते रहते हैं जिनका कारण जीव ही वा जीवनका अदृश्य बल ही समझा जा सकता है, क्योंकि इस बलके निकल जानेपर अविज्ञात कर्म्म भी बन्द हो जाते हैं। जीव जिस योनिमें होता है उस योनिके अनुकूल ही अपनी परिस्थितिसे अपने शरीरकी वृद्धिकी सारी सामग्री खींच लेता है, यथाशक्ति उत्तमसे उत्तम शरीरकी रचना करता है और शरीरान्ततक इस काममें रत्ती भर उठा नहीं रखता। हम यह नहीं कह सकते कि सभी मनुष्येतर प्राणियोंमें उद्योग करनेके पूर्व किसी अंशमें ज्ञात कर्मोंको उत्पन्न करनेके लिए संकल्प उठता है अथवा सारे काम अविज्ञात

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

भ० गी० अ० १५ श्लो० १६—१८

ही रीतिपर होते हैं, परन्तु कुछ प्राणियोंके लिए तो निर्विवाद रीतिसे सिद्ध है कि संकल्प शक्ति अवश्य है। यदि कुछ प्राणियोंकी गवाहीपर हम यह मान लें तो बहुत अनुचित न होगा कि संकल्प भी चेतनाके साथ साथ विकास पाता है अतः यदि धात्वादि खनिजोंमें नहीं तो वनस्पतियोंमें जिस परिमाणसे इन्द्रियोंका उदय होता है उसी परिमाणसे संकल्प शक्तिका बीज भी उगा हुआ है। यही बढ़ते बढ़ते मनुष्यमें वर्त्तमान रूपमें दिखाई देता है। विकास सिद्धान्तसे हम यह अनुमान भी कर सकते हैं कि भविष्यमें मनुष्यसे भी अच्छी योनिके प्राणी उत्पन्न होंगे जिनमें दसकी जगह पन्द्रह वा बीस इन्द्रियाँ हों और जितने कर्म्म अभी अविज्ञात हैं वह सभी विज्ञात हो जायँ, अपने शरीरके सभी अवयव अपनी संकल्प-शक्तिके पूरे अधिकारमें आ जायँ, जीवात्माका शरीरपर सोलह आना स्वराज्य हो जाय और मनुष्य कामरूप देवता हो जाय। उस समय मनुष्ययोनि शायद प्रकृतिके पूरे आदर्शतक पहुँच जाय। विकास सिद्धान्तके ही मार्गसे हमने अपने अनुमानको इतनी दूर पहुँचाया है, परन्तु हमारे यहाँके योगी प्रकृतिकी उस उन्नति दशाके आनेतक भी ठहरना नहीं चाहते, वह इतने बलवान हैं कि करोड़ों बरस बाद आनेवाले युगको, प्राचीन कालके महर्षियोंकी तरह आज ही बुला लेना चाहते हैं। यह प्रयत्न भी प्रकृतिसे बाहर नहीं है, विकाससिद्धान्तके प्रतिकूल नही है। प्रकृतिका विकास गणितके उत्तरोत्तर-वृद्धि*के नियमपर चलता दिखाई देता है। जो उन्नति गत तीन करोड़ बरसोंमें नही हुई वह तीन लाख बरसोंमें हो गयी। जो तीन

* जिमीमेट्रिकल प्रोग्रेशन Geometrical progression

लाख बरसोंमें न हो पायी थी वह गत तीन हज़ार बरसोंमें देखनेमें आयी। जो वृद्धि गत तीन हज़ार बरसमें न हो सकी थी वही गत तीन सौ बरसोंमें हुई और जो गत तीन सौ बरसमें भी नहीं कर पाये, गत तीस बरसोंने कर दिखाया। गत तीस बरसोंमें भी जगत् उतने वेगसे नहीं चल रहा था जितना गत तीन बरसोंमें विकासके मार्गमें आगे बढ़ रहा है। इससे न तो हमारे योगी कोई अनोखी बात कर रहे हैं और न मनुष्यसे भी ऊँचे प्राणीके उत्पन्न होनेमें कई करोड़ बरसोंका लगना ही अनिवार्य्य है।

इसी चेतनाके इस अंगके विकासको श्रुतिमें "अयं खलु क्रतुमयः पुरुषः" वाले महावाक्यमें दरसाया है। जीवके विकासका यह बड़े महत्त्वका सूत्र है कि यह पुरुष, यह व्यक्ति, यह जीवात्मा अपने ख़यालोंका पुतला है,—अपने विचारोंसे ही बनता है, अपने संकल्पसे ही रूप धारण करता है। जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है।

"श्रद्धामयोऽयं पुरुष. यो यच्छ्रद्ध. स एव सः।" [गीता]

यह पुरुष श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धा करता है वैसा ही होता है, अर्थात् इस पुरुषकी रचनामें किसी आन्तरिक संकल्पशक्तिकी क्रिया ही कारण हो रही है। इसी देह और जीवके दोहरे विकासकी शक्तिको ही और शब्दोंमें दैवी वा ईश्वरीशक्ति कहा है।

"ईश्वर सर्वं भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वं भूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"
[भ० गी० अ० १८ श्लो०६१]

इस सूत्रको लेकर लोग यह कह सकते हैं कि यदि मनुष्य अपने विचारोंका ही पुतला है और उसके विचार पाशविक हुए, कदाचारकी ओर प्रवृत्त हुए, आवारगीपर आमादा हुए तो अच्छा विकास होगा, प्रकृति खूब ही उन्नति करेगी! ऐसी आपत्ति उठानेवाले यदि विकाससिद्धान्तके पहलूपर पूरा ध्यान देंगे तो यह गुत्थी भी सुलझ जायगी।

जिस तरह प्रकृति शरीरोंको बनाती बिगाड़ती अभ्यास करती जाती है और नित्यके अच्छेसे अच्छे शरीर बना रही है, उन्नति कर रही है, उसी तरह चेतनामें भी बराबर वृद्धि हो रही है। खनिजोंमें जहाँ चेतनाका सूक्ष्म रूपसे वा तरल रूपसे सर्वाङ्गमय विस्तार था वहाँ वनस्पतियोंमें अलग अलग वृक्षोंमें विभाग हुआ जिसमें अंग प्रत्यंगकी चेतना अलग अलग दीखने लगी, परन्तु व्यक्तिगत विलगता नहीं आयी। तो भी (अमीबा) जीवमूलके एकसे दो, दोसे चार, चारसे आठ, आठसे सोलह आदि विभाग होकर एक चेतना वा एक ही जीवसे अनेक जीवोंका विभक्त हो होकर बन जाना* व्यक्ति वा अहंकारका सूत्रपात समझना चाहिए। पशुओंमें इस व्यक्ति-विभागका स्थूल रुप और कम विकसित दशाएँ देख पड़ती हैं। मनुष्यमें अहन्ता अच्छी तरह विकसित और सूक्ष्मरूपसे एक ही शरीरमें सम्पूर्ण विस्तृत देख पड़ती है। निदान जीव और शरीर दोनोंका विकास होता आया है। परन्तु इस विकास मार्गमें जीव ज्यों ज्यों बढ़ता गया त्यों त्यों उसकी ज़िम्मेदारी

---

* अमीबा वा जीवमूल वा मूलजीव उन सूक्ष्म दानोंका, सेलोंका, नाम है जिनसे चराचर प्राणीका शरीर बनता है और नित्य विकास और ह्रास होता रहता है। अमीबा एकसे दो, दोसे चार, चारसे आठ होता हुआ बढ़ता जाता है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रसे वह और उसकी वृद्धि देखी जा सकती है।

-भी बढ़ती गयी। अपनी संकल्पशक्तिसे अपने लिए स्वयं मार्ग खोजने लगा। स्वभावरूपी मार्गदर्शकसे स्वाधीनता पाने लगा। जब उसकी भीतरी आँखें खुल गयीं, उनका धुँधलापन मिट गया, स्वभावकी ऐनक उतार फेंकी। इधर उधर देखकर परीक्षाएँ करने लगा। आगे बढ़नेके बदले दहने-बायें पीछे भी मुड़ने लगा। राहके तमाशे देखने लगा। जब कभी कुमार्ग चला ठोकरें खायीं दहने-बाएँ तमाशबीनीमें राह खोटी करने लगा और गढ्ढेमें गिरा या काँटोंमें उलझा। यह सब ज़ाहिरी रुकावटें उसे सीधी राह आगे बढ़नेमें सहायता देती हैं, और जहाँ वह इन रुकावटोंसे उलझकर कुछ विरम जाता है, वहाँ आँखें खोलकर सामनेके सीधे मार्गको साफ़ पाकर सरपट भी दौड़ जाता है और अपनी कमी ही पूरी नहीं कर लेता बल्कि आगे भी बढ़ जाता है। इस तरह राहका तजरबा करते चलना, कठिनाइयोंका अनुभव करते चलना, उसके आगेकी चालमें बाधा डालनेके बदले अधिकाधिक लाभका कारण होता है। जैसे वैज्ञानिक कल्पनापर परीक्षाएँ करता है, जिन बातोंको सोचता है, प्रयोगकी कसौटीपर परख लेता है। अगर बात पाव तोला बावन रत्ती न ठहरी या परीक्षामें उसे सफलता न हुई तो उसकी जानकारी बढ़ी, अनुभवकी थैलीमें एक सिक्का और पड़ गया, उसका नुकसान कुछ भी न हुआ। परीक्षाओंमें असफलता ही भविष्यकी सफलताकी नींव है, कामयाबीकी कुंजी है, आगे बढ़ने और ऊपर चढ़नेकी सीढ़ी है। सफलता तो मंजिल है जहाँ आदमी दम लेता है, रुक जाता है, पीछे निगाह डालकर छोड़े हुए मार्गकी जाँच पड़-ताल करता है। आगे बढ़नेके लिए नयी सीढ़ियोंपर कदम रखनेके पहले भलीभाँति देखभाल करता है।

इन बातोंपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि यद्यपि चोरके मनमें चोरी करनेमें, हर्ज नहीं है उसका प्रत्यगात्मा वा अन्तरात्मा उसे चोर बनानेमें ही श्रद्धावान् है, उसका "हृद्देशे" स्थित "ईश्वर" उससे चोरी ही कराता है तो वस्तुतः उसे चोरीके बुरे प्रभावोंका अनुभव कराना उसी तरह इष्ट है जैसे बच्चोंको दीपकसे जलनेका अनुभव कराते हैं। अभी स्पष्टतः उसने विकासकी ऊँची छतपर चढ़नेकी सीढ़ीके सबसे नीचेवाले डंडेको ही तय नहीं किया है । इस सीढ़ीपर चढ़नेमें हर डंडेपर कदम रखकर बढ़नेमें ही अधिक सुभीता है। बहुतेरे दो एक डंडे छोड़ते, लम्बे डग रखते चढ़ते हैं पर कहीं इस उद्योगमें फिसले तो बहुत दिनोंका खाया पिया निकल गया, सारी की कराई मेहनत मिट्टीमें मिल गयी और फिरसे उन्हें चढ़ना आरम्भ करना पड़ा।* यह तो हुई दो एक डंडे छोड़कर चढ़नेवालोंकी बात। और जो कई डंडे छोड़कर ऊपर फाँदकर पहुँचनेका दुःसाहस करते हैं, ऐसा गिरते हैं कि हड्डी पसलीका पता नहीं लगता। † अनुभवकी पाठशालामें डबल प्रमोशन आसान नहीं। छोड़े या भूले हुए पाठको बिना पढ़े आगे बढ़े कि स्वभाव-शिक्षकने थप्पड़ और तमांचे जड़े, "आगे दौड़, पीछे छोड़" का हौसला पस्त हो गया। स्वभावकी पाठशाला छोड़कर कोई कहीं जा भी नहीं सकता, यही बन्धन है। इसी लिए कि कदम फूँक फूँकके रखनेमें ही कुशल

---

* गीतामें योग-भ्रष्टका उदाहरण प्रसिद्ध है—

"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमतां।" [अ० ६]

† रामराज्यमें शूद्रकी तपस्या ऐतिहासिक उदाहरण है।

है, बुद्धिके प्रकाश भर ही बढ़ना है। अन्तरात्मा, मनोदेव, कांशंस, जो कुछ कहिये चेतावनी देता रहता है "सावधान! सावधान! अन्धकारे प्रवेष्टव्यं, दीपो यत्नेन धार्य्यताम्।"

जीवात्मा अपने संकल्पसे ही काम लेता है, अपनी गति और वेगके विषयमें स्वाधीन है, परन्तु साथ ही अब भी, इतनी उन्नत दशामें भी, एकदम निःसहाय नहीं छोड़ा गया है। अन्तरात्मा अब भी उसे उचित इशारोंसे राहपर लगाता ही रहता है उसकी सहायता करता ही रहता है। चोर, डाकू और हत्यारेका अन्धकारमें भी साथ देता है और महापातकीसे जन्म जन्मान्तरमें भी प्रायश्चित्त कराकर ही छोड़ता है। यहाँ महापातकी वही समझा जाना चाहिए जिसका विकासकी नसेनीसे महापतन हुआ है। "पातक" वही अपकर्म हैं जो मनुष्यके अधःपतनका कारण होते हैं। "पतित" गिरे हुओंका नाम है। "धर्म्मात्मा" वही है जिसकी ऊर्ध्वगति अनवरुद्ध है, जिसकी ऊपरकी यात्रा विना रुकावटके होती जाती है अथवा शीघ्र होती जाती है। धर्म्म, अधर्म और पाप वा पातककी यही व्याख्या वैज्ञानिक रीतिसे पूरी उतरती है, यों तो अपनी अपनी समझके अनुसार इन शब्दोंका प्रयोग जीवनकी घटना-सूचीमें और तथ्योंके विस्तारमें भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे अनेक अर्थोंमें आया है। इसका कारण भी स्पष्ट ही है। विकासकी असंख्य डंडोंवाली नसेनीपर चढ़ते हुए संख्यातीत मनुष्योंका अनुमान कीजिए। जो बीसवींपर है उसके लिए उन्नीसवींपातक है, इक्कीसवीं पुण्यमयी है, परन्तु जो अभी पन्द्रहवींपर ही है उसके लिए उन्नीसवी ही चौगुनी पुण्यमयी है! इस तरह पाप पुण्य भी निरपेक्ष नहीं हैं, सापेक्ष हैं। जो एकके लिए पाप है दूसरेके लिए पुण्यकार्य्य हो सकता है।

कहीं पुण्य कियेसे बड़ा पाप होता है,

कहीं पाप कियेसे पुण्य आप होता है। (बनारसी)

धर्म्माधर्म्मकी इस मीमांसासे स्पष्ट है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी कसौटी अलग रखता है प्रत्येकके लिए पाप पुण्य कीनाप अलग अलग है। प्रत्येक मनुष्यकी भलाई इसीमें है कि अपना धर्म पाले और दूसरोंके फटेमें पावँ न डाले, न किसी-की देखा-देखी अपने कर्त्तव्यको छोड़ अन्यके कर्त्तव्य करने लगे।

श्रेयान्स्वधर्म्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः।

स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः।

पराया धर्म्म चाहे कैसा ही अच्छा हो उससे अपना गुण-हीन धर्म्म ही अच्छा है, अपने धर्म्ममें मरना भी भला है, पर अन्यका धर्म्म भयका कारण है। अपने अपने कर्म्ममें लगे रहने से मनुष्य सिद्धि पाता है। भगवान् की अर्च्चा जो अपने कर्त्तव्यपालनसे करता है, सफल होता है, इत्यादि गीताके वाक्य उपर्य्युक्त बातोंकी पुष्टि करते है।

यह भी स्वाभाविक बात है कि मनुष्य जिन बातोंको अपने लिए अच्छा समझता है, सबके लिए अच्छा समझने लगता है। इस भ्रममें अनेक मनुष्य अपने सुधारके बदले औरोंके सुधारका ठेका ले लेते हैं और खुदाई फ़ौजदार बन बैठते हैं। औरोंको उपदेश करना ही अपना कर्त्तव्य जानते हैं। परन्तु "परोपदेश कुशलाः दृश्यन्ते बहवो जनाः" "पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे" खंडन-मंडनके झगड़े, साम्प्रदायिक मतभेद अधिकांश इसी भ्रमके फल हैं।

ऐसे मनुष्य इस पुस्तकके अन्तमें दिये हुए स्वामी रामके "आवश्यकता" "वांटेड" वाले विज्ञापनपर विचार करें और जो वस्तुतः विद्वान् हैं उन्हें गीताकी यह चेतावनी याद रहनी चाहिए—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्म्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।
....
तानकृत्स्नविदान्मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।"

विद्वान् उपदेशकोंको यह उचित नहीं कि अज्ञानियोंको उनके मार्गसे विचलित करके अपने कठिन और न समझमें आनेवाले, उनके लिए अत्यन्त ऊँचे धर्ममें, लगा दें जिससे वह किसी ओरके न रहें, न घरके न घाटके। उत्तम शिक्षक वही है जो प्रत्येक शिष्यकी योग्यता और समाई देखकर उतनी ही शिक्षा देता है जिसे वह दृढ़तासे ग्रहण कर ले, प्रारंभिक कक्षावालोंको सुबोध बातें बताता है और ऊँची कक्षा-वालोंको दुर्बोध विषय हृदयंगम कराता है। दोनों प्रकारके शिष्य अपनी अपनी योग्यताके अनुसार लाभ उठा सकते हैं।

यद्यपि धर्म्म अधर्म्म या पाप पुण्य सबके लिए समान नहीं, यद्यपि सबके कर्त्तव्य अलग अलग हैं, तथापि सबका यह उद्देश्य समान है, एक है, कि हम उन्नति करें, हम बढ़ें, हम अच्छे रहें, हमें सुख मिले, हम दुःखी न हों। आदर, मान, धन सम्पत्ति, विद्या, सन्तान, सभी कुछ एक शब्द उन्नति वा वृद्धिमें आ जाता है। वृद्धि होती जाती है, पर मनुष्य अपनी दशासे संतुष्ट नहीं होता। उसकी वासना सदा अतृप्त रहती है, उसकी अभिलाषा वृद्धिसे भी दो कदम आगे बढ़ी रहती है। सांसारिक सुखोपभोगके प्यालेपर प्याले ढालता जाता

है, उसकी मस्तीमें झूमता रहता है, पर सुखकी प्यास बुझती ही नहीं, हर प्यालेपर बढ़ती ही जाती है, न जाने यह कौन सा स्वाद है, जो उत्तेजित होता जाता है, कौनसी मस्ती है जिसका ओर छोर नहीं दीखता। यह अतृप्त वासना पुकार पुकार कह रही है कि यह उस दरजेका सुख नहीं जिसकी तुझे खोज है, यह वह आनन्द नहीं जिसके पीछे तू बावला हो रहा है—

"आनद सिन्धु मध्य तव वासा।
बिन जाने कत मरसि पियासा॥"

पर मनुष्य है कि परीक्षाओंमें लीन है और उनसे गलत नतीजे, भ्रमात्मक निष्कर्ष निकाल रहा है। मिठाईमें मिठास, शब्दमें मनोहरता, रूपमें सौन्दर्य्य, गन्धमें सुवास और स्पर्शमें कोमलता देख बाहरी वस्तुओंमें इनका आरोप करके सुखका पता लगानेको डालडाल पातपात भटकता है, अपनी नाभिके सुवाससे बावला हिरन जंगलमें छलांगें भरता खोजता फिरता है कि "परम सुगन्ध कहाँते आयो," और सांसारिक श्वान सूखी हड्डी चबाकर अपने मुखके रक्तसे प्रसन्न हो समझता है कि सूखी हड्डीका ही स्वाद है। इन्हीं भ्रमोंसे अपनी अतृप्त वासनाओंको सन्तुष्ट करनेको सामानपर सामान इकट्ठे करता है, सामग्रीपर सामग्री बटोरता जाता है। संसारकी बाह्य सामग्री अनन्त नहीं, झट चुक जायगी, पर वासनाको अनन्त सुखकी खोज है, वह बढ़ती ही जायगी अनन्त ही होती जायगी। और जबतक वासनाकी तृप्ति नहीं, सुख कहाँ! यदि विषय और वासनाका सम्बन्ध भिन्नके रूपमें दिखायें और विषयको भाग और वासनाको हर करके दिखायें तो यह रूप होगा—$\frac{\text{१ विषय}}{\text{१ वासना}}$ = १ सन्तोष अर्थात् जितनी वासना

हो यदि उतना ही विषय भी प्राप्त हो तो सन्तोष हो जायगा और "सन्तोषं परमं सुखम्" परन्तु यथार्थमें जितनी वासना होती है उतना विषय मिल नहीं सकता इसलिए यदि विषयको १ वासनाको २ मानें तो भजन फल ½ सुख अर्थात् आधा सुख होगा। वासना जितनी ही बढ़ती जायगी सुखकी मात्रा उतनी ही घटती जायगी। वासना अनन्त हुई तो सुख-का अंक भजनफल शून्य हो जायगा।*

इसीके विरुद्ध यदि हम वासनाको ही घटाते जायँ तो सुखका अंक बढ़ने लगेगा। यदि वासना शून्य हो जाय तो अत्यल्प विषय भी अनन्त सुखका कारण होगा। यहाँ वासना कौनसी मिटानी है? विषय-वासना, बाहरी सुखकी सामग्री-की इच्छा। परमानन्द प्राप्तिकी वासना तो तभी मिटेगी जब जीव सच्चिदानन्द हो जायगा।

यही बात है कि जैन, बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, मुसल्मान सभी इस बातमें सहमत हैं कि सांसारिक विषयवासनासे मनको हटाना धर्मकी एक रीति है, वृद्धिका उपाय है, आत्मसंयम-का आवश्यक अंग है। एपिक्युरस वा चार्वाकके ऐसे मता-नुयायी जो विकाससिद्धान्तसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते इस आत्मसंयमके मार्गका अनुसरण अवश्य नही करते, और यद्यपि व्यवहारमें जीवमात्र विषयवासनामें लिप्त है, स्वभाव विषयवासनाकी ओर खींचता है, क्योंकि परीक्षा और अनु-भवपर ही संसारका विकास निर्भर है और अभी विषय-वासनाके युगका अन्त विकास-कल्पमें नहीं हुआ है—तथापि संसार भरमें सभी विकसित बुद्धिवाले विषयवासनाको वृद्धिके मार्गका कंटक समझनेमें एकमत हैं।

* देखो, इन-वुड्स-आफ-गॉड-रियलाइज़ेशन (स्वामी रामतीर्थके लेख) पृ० ३०३।

हम कह आये हैं कि जीवात्माके विकासका अन्त दो तरह-पर समझा जाता है एक तो यह कि जीव सच्चिदानन्द हो जायगा, दूसरे यह कि जीव ब्रह्मलीन हो जायगा। जहाँ जीव अपने ईशको अपनेसे भिन्न सनातन समझता है और ईशके सान्निध्यकी अभिलाषा करता है उसे स्वामी और अपनेको उसका वशंवद मानता है, सच्चिदानन्दको अपना आदर्श ठहराता है, अपने आचरण उसीके अनुकूल बनाता है, वहाँ वह भक्ति-मार्गका अनुयायी समझा जाता है। परन्तु जहाँ जीव विचार और अनुभव और अनुशीलनसे वास्तविक सत्यकी खोज करता है वास्तविक सत्ताको जानता है अपनी परिस्थिति और अन्तःस्थितिकी जाँच पड़ताल करके अपनी असलियतका पता लगाता है, सारांश यह कि वैज्ञानिक रीतिसे चलता है, वहाँ वह ज्ञान-मार्गका अनुयायी समझा जाता है। विकास वा परिणामके माननेवाले संसारमें सर्वत्र इन्हीं दो मार्गोंपर चलनेवाले पाये जाते हैं, चाहे किसी नामसे पुकारे जायँ, चाहे किसी रूपमें देखे जायँ दोनोंका उद्देश्य उन्नति वा वृद्धि है, दोनोंका मार्ग एक ही दिशामें है एक ही केन्द्रकी ओर ले जाता है। दोनों अपने शरीरको और अपनी परिस्थितिको अपना औज़ार मानकर काम लेते हैं। दोनों अपनी इन्द्रियोंको अपने काबूमें रखना चाहते हैं। दोनों एक स्वरसे इस बात-का इकरार करते हैं कि—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिस्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच।
इन्द्रियाणि हयान्याहुः।" [कठोपनिषत्]

शरीर रथ, आत्मा रथी, बुद्धि सारथी, मन लगाम है और इन्द्रियाँ दस घोड़े हैं; इन्हें वशमें रखनेसे ही राह कुशलसे

कटेगी। दोनोंने मनकी बागडोर बुद्धिके हाथ दे रखी है। जो अपने गुरु, अवतार, इष्टदेव आदि किसीको आदर्श मानता है, उसके ही हाथमें बागडोर देता है। जो आत्मानुभव करके अपनी बुद्धिको ट्रेन कर चुका है बुद्धि इस काममें चाक़-चौबन्द हो चुकी है—क्योंकि सईसी "इल्म-दरियाव" है—वह विज्ञानवान अपनी बुद्धिकी ही सईसीमें अपनेको, मंजिल मक़सूदतक, अपने इष्टतक, पहुँचाता है।

यह तो हुई दोनोंमें समानता। ज्ञान और भक्तिमार्गके भेद उन दोनोंके विस्तारमें हैं, उन दोनोंके अनुशीलनकी रीतियोंमें है। जिस तरह शिक्षामें आजकल भाषाओंके सिखानेकी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रीतियाँ (डिरेक्ट तथा इंडिरेक्ट मेथड) हैं, एक ध्वनि और शब्दको वस्तु और क्रियामें आरोप करके अर्थका अनुभव करता है, दूसरा अपनी मातृभाषाके पर्यायोंमें परायी भाषाके शब्दोंको बदलकर उनके अर्थ समझ लेता है। पहली प्रत्यक्ष रीति है, दूसरी अप्रत्यक्ष। इसी तरह आध्यात्मिक उन्नतिके लिए भी दो मार्ग हैं। और उन दोनोंकी रीतियाँ भिन्न हैं। भक्तिमार्गमें मनुष्य अपना आदर्श अपनी उन्नतिके अनुकूल ही चुनता है। अत्यन्त असभ्य दशामें जब कि किसी अप्रत्यक्ष और अदृश्य शक्तिसे डरकर मनुष्य एक काल्पनिक रूप खड़ा कर लेता है उसकी प्रसन्नतामें अपनी भलाई और उन्नति समझता है। उसे प्रसन्न रखनेके लिए अपनी कल्पनाके अनुसार अनेक प्रकारके उपाय रचता है। भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस, गन्धर्व, दानव आदिके भाँति भाँतिके रूपों और गुणोंकी कल्पना करके उनकी पूजा वा उपासना करता है, समझता है कि यह शक्तियाँ अप्रसन्न रहनेसे हमको दुःख देंगी, कष्ट पहुँचावेंगी, क्योंकि वह साधा-

रणतया यह भी देखता है कि बलवान निर्बलको अप्रसन्न होनेसे सताते हैं बल्कि भूखे होनेपर खा भी जाते हैं। मनुजादोंके युगमें इन्हीं कारणोंसे मनुष्यका बलिदान करनेकी रीति चल गयी थी, परन्तु धीरे धीरे जब सभ्यतामें उन्नति हुई अपनी जातिकी रक्षाका भाव मनमें उदित हुआ, उस समय मनुष्यने जीका बदला जी देनेकी प्रथा चलायी और मनुष्यके बदले पशुका बलिदान करना सीखा। ज्यों ज्यों उन्हें दया और करुणाका स्वाद मिलने लगा त्यों त्यों अपने आदर्श देवताओंमें उन्होंने करुणा और दयाके भावका भी आरोप किया। आरम्भमें राक्षस मनुष्यको पकड़कर मार डालने और खानेमें कोई रीति रस्म नहीं बर्तता था परन्तु आगे चलकर उसने बिना देवताको चढ़ाये, बिना यज्ञ किये भोजन करना बुरा ठहराया और फिर धीरे धीरे मनुष्यका बलिदान करना भी छोड़कर उसके बदले पशुका बलिदान ठीक समझा गया। यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानोंमें हज़रत इब्राहीमका अपने बेटे इसहाक़की कुरबानी करनेके लिए हथियार उठाना पाश्चात्य देशोंमें, और अपने यहाँके नरमेध यज्ञका राजा हरिश्चन्द्रका अपने पुत्र रोहिताश्वको वरुणके लिए बलिदान करनेकी प्रतिज्ञा करना और इसी तरहकी अन्य कथाएँ प्राच्य देशोंमें इस बातकी गवाही देती हैं कि मनुष्यका वास्तविक बलिदान किसी युगमें अवश्य हुआ करता था। आज भी हैज़ा, महामारी और इस समयके युद्धज्वर आदिके फैलनेपर ऐसी जातियाँ जिनके विचार उन्नत नहीं हैं समझती हैं कि काली भवानी मनुष्योंको खाये जाती हैं और जीका बदला जी देनेके लिए पशुओंका बलिप्रदान अब भी ऐसी ही दशाओंमें होता है।

बलिप्रदान और यज्ञका प्राचीन कालसे चोली-दामनका

साथ रहा है परन्तु जब मनुष्योंका आदर्श बढ़ा,—यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस संसारका शासन करनेवाली शक्तियाँ मनुष्यके साथ जब लेनदेनका बर्ताव करती हैं, जब आपसमें क्रय विक्रय होता है अर्थात् दर्जा बराबरीका है, और मनुष्य अपने पराक्रमसे इन शक्तियोंको अपने वशमें भी कर सकता है—तो मनुष्यने अपने लक्ष्यको और ऊँचा बढ़ाया और ऐसे देवकी भक्ति आरम्भ की जिसके हाथमें उन सब शक्तियोंका सूत्र हो जो इन सबसे बड़ा हो। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है–

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेय परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

[भ-गी० अ० ३]

प्रारम्भमें यज्ञके साथ साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने कहा, "इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह यज्ञ तुम्हारी कामधेनु होवे अर्थात् तुम्हारे इच्छित फलोंका देनेवाला होवे।

तुम इस यज्ञसे देवताओंको सन्तुष्ट करते रहो, देवता तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। परस्पर एक दूसरेको सन्तुष्ट करते हुए दोनों परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त करो।

यज्ञसे सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित भोग

तुम्हें देंगे उन्हींके दियेहुएमेंसे उन्हें भाग न देकर जो अकेले आप ही उपभोग करता है, वह चोरी करता है।

यज्ञ करके शेष बचे हुए भागको ग्रहण करनेवाले सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु यज्ञ न करके केवल अपने ही लिए जो अन्न पकाते हैं, वे पापी लोग पाप भक्षण करते हैं।

इन श्लोकोंके शब्दार्थ मात्र ऊपर दिये गये हैं। आध्यात्मिक अर्थ चाहे जो कुछ लगाये जायँ परन्तु साधारणतः इसमें सन्देह नहीं मालूम होता कि मनुष्यने जब इतनी उन्नति कर ली कि देवताओंको वा प्राकृतिक शक्तियोंको उनके ठीक मूल्यपर आँकने लगा और क्षमा, दया करुणा आदिकी वृद्धि हुई तो वह "अहिंसा परमो धर्मः"का मन्त्र पढ़ने लगा। अपने परमदेवता परम पूज्य और देवोंके देवको अहिंसाकी मूर्ति मानने लगा, चाहे उसे अर्हत्, तीर्थङ्कर वा बुद्ध कहता हो और चाहे दूसरे रूपमें प्रेमकी पराकाष्ठा वा प्रेमका आदर्श मानकर अल्लाह (प्रेम), राम, कृष्ण वा ईसाके रूपमें मानता हो। इस विषयपर गम्भीर विचार करनेसे यह पता चलता है कि मनुष्य अपने आदर्शको अपनी उन्नतिके साथ साथ बढ़ाता रहा है।

जिन विचारोंको उसने उच्च समझा जिन भावोंको उसने उत्तम पाया जिन बातोंको उसने सत्य प्रिय और हित जाना और जिन क्रियाओंको उसने विकासके मार्गमें सहायक देखा—निदान जिन विचारों भावों वचनों और क्रियाओंको उसने धर्म्म और कर्तव्य समझा अपने आदर्शमें उन्हींका आरोप किया—अपने आदर्शको उन सबका काल्पनिक रूप देकर अपने हृदयमन्दिरमें पधराया और जिस प्रकार हो

सका मन, वचन, कर्मसे अपने आदर्शका आदर किया। "इञ्जीलके खुदाने मनुष्यको अपने अनुरूप बनाया," इस बात-की हँसी उड़ाते हुए फ्रान्सके प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्टेयरने कहा है कि मनुष्यने भी अच्छा बदला लिया कि उसने ईश्वर-को ही अपने अनुरूप बना डाला। मर्म्मज्ञ लोग इस बातको दूरतक समझें। इसमें सन्देह नहीं कि उस वास्तविक अचिन्त्य और कल्पनातीत सत्ताको कल्पनाके शिकञ्जेमें कस-कर अपने अनुरूप काटछाँट करना और मनचाही पोशाक पहिनाना कैसा असम्भव है, कहनेकी आवश्यकता नहीं। चीमटा उलटकर हाथको ही पकड ले यह कैसे हो सकता है?

मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार जो अन्तःकरण अर्थात् भीतरी औज़ार हैं इनकी क्या मजाल है कि उलटकर अपने पकड़ने-वाले हाथोंका पता लगा सकें। इसीलिए यह कहना पड़ता है कि जितनी कुछ बातें आदर्शरूपसे कही जा सकती हैं, या जिनका आरोप ईश्वरमें हो सकता है वह उस वास्तविक सत्तासे बहुत दूर हैं, तो भी साथ ही मनुष्यके विकासमार्गमें बहुत सहायक हैं, यहाँतक कि जब मनुष्य अपने आदर्शकी कल्पनामें इतनी दूर पहुँच जाता है कि अपने गुरु वा इष्टदेव-में अपने कल्पित समस्त ऐश्वर्य्योंकी रचना कर लेता है जब आदर्श सर्वाङ्गपूर्ण हो जाता है, जब कोई कसर नहीं रह जाती उसकी चेतनाका प्राकृतिक विकास उसे वास्तविक सत्ताकी कल्पनातक खींच ले जाता है। अपने मंज़िलतक पहुँचनेपर उसे पता लग जाता है कि अभी रास्ता और आगे गया है और उद्दिष्ट स्थान कुछ आगे जाकर मिलेगा।

अपने देवाधिदेव भगवान्‌की षोड़शोपचार पूजा करते करते बाहरी विग्रहको मनके चित्रपटपर उतारता है और

अपने उपास्यके सब गुणोंको अपने चरित्रमें लाकर जब "तन्मय" हो जाता है, जब उसके रोम रोममें राम रम जाता है, जब वह अपने उपास्य वा आदर्शको ही सर्वत्र देखता है—निदान जब उसे अपने परम प्यारेका ऐसा सामीप्य प्राप्त हो जाता है कि उसे वह वस्तुतः अपने हृदयमें वा मनमें बिठा लेता है (जिसे अन्य शब्दोंमें "उपासना" कहते हैं) उस दशामें यह कैसे सम्भव है कि भक्त और भक्तभावन, उपासक और उपास्य, प्रेमी और प्यारे यह दो रह जायँ और "मैं" और "तुम"का बर्ताव बना रहे, द्वैतभाव तुरन्त नष्ट न हो जाय! भक्तिमार्गका आरम्भ चाहे जिसरूपमें हो, अन्तका तो इसी रूपमें होना अनिवार्य्य है। जबतक यह अन्त नहीं आया तबतक भक्तिमार्गी अपने प्रेमपात्रको वा आदर्शको अपनेसे अलग माना ही चाहे। उसके यह मान लेनेमें कि "वह मैं ही हूँ।" उपासना ही बिगड़ जाती है, भाव ही बदल जाता है वह अप्रत्यक्ष रीति, इनडिरेक्ट मेथड, ही नहीं रह जाता। ज्ञानी भी भक्तिके मार्गकी अवहेलना नहीं करता। भक्तिमार्ग-में कठिनाइयाँ कम हैं, इसलिए ज्ञानी भी बहुधा भक्तिमार्गमें सुभीता देखता है और सिद्धान्तोंको समझते हुए भी इकरार करता है—

सत्यपिभेदापगमे नाथ तवाहं नमामकीनस्त्वं
सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।

हे नाथ अभेद होते हुए भी मैं तुमसे हूँ, तुम मुझसे नहीं हो, तरंग समुद्रसे होता है, समुद्र तरंगसे कभी नहीं होता।

ज्ञानका मार्ग साधारणतः कठिन ही समझा जाता है, क्योंकि ज्ञानीपर दायित्व है। भक्त अपने स्वामी भक्तभावनके

आसरे रहता है, ज्ञानी अपनेको ब्रह्मसे भिन्न मानता ही नहीं। तुलसीदासजी श्रीरामचन्द्रजीके श्रीमुखसे कहलाते हैं—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी।
बाल अबुध सम भक्त अमानी॥

जवान लड़के मातापिताके आसरे नहीं रहते, माँबाप उनकी चिन्ता भी नहीं करते, क्योंकि अपनी देखरेखके वह आप जिम्मेदार हैं। तो भी। यह तो स्पष्ट है कि यह बालक कभी छोटे भी रहे होंगे। ज्ञानी हो जानेके पहले ज्ञानमार्गीका भक्त होना आवश्यक है। ज्ञानमार्गमें भी आरम्भिक दरजे भक्तिके ही हैं। हिसाब सिखानेमें जैसे गुणा भाग आदिके नियम याद करा दिये जाते हैं, उनका अभ्यास कराया जाता है। बार बार अभ्यास करते करते वही नियम अँगुलियोंपर उतर आते हैं, स्वाभाविक हो जाते हैं। उनसे सारे काम होते हैं, पर उन नियमोंके मूल कौनसे सिद्धान्त हैं यह नियम कैसे बने, इन बातोंको जब वह बहुत ऊँचे दरजोंमें बीजगणित पढ़ता है तभी जानता है। इसी तरह आरम्भमें सिद्धान्त न समझे रहनेपर भी मनुष्य वेदान्तकी रीतिसे उपासना करता रहे, और बराबर तत्त्वज्ञानकी शिक्षा भी पाता रहे। यदि "अयं खलु क्रतुमयः पुरुषः" या मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है, यह वैज्ञानिक नियम है और सच्ची बात है तो "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सारा ब्रह्म ही ब्रह्म है, इन वाक्योंपर निरन्तर चित्त जमाये रहनेसे मनुष्यके जीवन-मरणसे मुक्त हो जानेमें विकासके इन्द्रजालसे छूट जानेमें और जीवसे ब्रह्मभावना मनमें दृढ़ हो जानेमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। संसारके सुखदुःख हर्षामर्षको असत्य समझते समझते इसको निश्चय इन बन्धनोंसे मुक्ति हो जानी

चाहिए। साथ ही अहंब्रह्मास्मि मैं ब्रह्म हूँ यह याद रहे दृढ़तासे हृदयपर अंकित हो जाय और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सब ब्रह्म ही है, यह भूल जाय तो उपासक आधा सत्य माननेके कारण भ्रमजालसे छुटकारा पानेके बदले और भी उलझ जायगा, अभिमानी हो जायगा, बल्कि पागल हो जायगा। पागलखानेमें अपनेको खुदा और सबको अपनी खिलकत माननेवालोंकी कमी नहीं है। और इसके विरुद्ध यदि उपासक "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" को ही याद रखता है और अपनेको "इदं" से अलग जानता है, तो वह भी अर्द्धसत्यके भँवरमें पड़कर डूब जाता है। परन्तु वह अपनेको सदा दास ही समझता रहेगा, बन्धनसे मुक्त न होगा। वह भी एक प्रकारका पागल ही समझा जाना चाहिए। इस तरह भ्रमपूर्ण उपासना बड़ी भयानक होगी, बड़ी खतरनाक होगी।

"ज्ञानक पन्थ कृपानकी धारा।
परत खगेस न लागइ बारा॥"

इन दोनों खतरोंसे बचकर संसारमें यदि जीव इस प्रकार ज्ञानमार्गसे भगवदुपासना करे तो विकासके जालसे क्यों शीघ्र मुक्त हो जायगा? कारण यह कि अपने आदर्शको अपने-से अलग माननेवालेके लिए विकास आवश्यक है, आदर्शतक पहुँचना ज़रूर है, रास्ता तय करना, मंजिलतक पहुँचना है, परन्तु ज्ञानमार्गवालेके लिए विकास कहाँ, आत्मा सदा पूर्ण है, उसमें क्षय वृद्धि कैसी, वह जब ऐसा पूर्ण है कि उसमेंसे पूर्ण निकाला तब भी पूर्ण ही रहा तो उसके लिए विकास कैसा, विकास तो प्रकृतिमें है, मायाका पसारा है, मायाकी निगाहोंमें है। पृथ्वीपरके मनुष्योंके लिए सूरज निकलता है, बादलोंसे ढक जाता है, रात हो जाती है, उदय अस्त नित्य

होता है सब कुछ सही, पर सूरज तो वस्तुतः जहाँ है वहाँ बराबर चमक रहा है, न कभी छिपा न कभी डूबा न उसने कभी अन्धकार देखा न कभी रात हुई, न उदय हुआ न अस्त, यह तो देखनेवालोंका दृष्टि विपर्य्यय है, समझका फेर है। आत्मा पूर्ण है उसमें विकास नहीं। सर्वत्र है तो कहाँ आय, राह कहाँ, मंजिल किधर?

आठवाँ प्रकरण

उपासना

सत्यकी कसौटी—ज्ञान, इच्छा, क्रिया—शिक्षा और उन्नति—उपासनाकी आवश्यकता—व्यक्त और अव्यक्त उपासना—उपासनाके भेद—परापूजा—तल्लीनता और सांसारिक कर्त्तव्य—जनकादिके जीवनसे उदाहरण।

पिछले प्रकरणमें प्रसंगतः हम देख चुके हैं कि प्रतिज्ञाओंकी सचाईकी परख व्यवहारमें ही होती है, हमारा चरित्र ही सत्यकी कसौटी है। उपदेशको जब हम वर्त्त नहीं सकते, उसे पारलौकिक कहकर उसकी अव्यावहारिकता वा असत्यताको छिपाते हैं। शरीरके संसर्गसे प्राणी अनेक कष्ट उठाता है, सांसारिक दुःख भोगता रहता है। इसी दुःखको दूर करनेके लिए सारे उपाय किये जाते हैं। भूतप्रेतादिकी उपासनासे लेकर ऊँचेसे ऊँचा ज्ञानकथन दुःखोंसे निवृत्ति ही अपना उद्देश्य रखता है। यदि ऐसे सिद्धान्तसे दुःखोंका निवारण न हुआ तो उससे लाभ ही क्या?

जैसे वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालामें प्रतिज्ञाओंको जाँचकी कसौटीपर कसता है, उनका प्रयोग करके यह निश्चय करता है कि सिद्धान्तमें परिणत होनेकी योग्यता उनमें है या नहीं, उसी तरह वह परम वैज्ञानिक अर्थात् अद्वैतवादी जीवनके अद्वैतवाद सिद्धान्तको नित्यके वास्तविक व्यवहारोंमें लाकर देखता है कि सच्चा है या नहीं। पांचभौतिक

शरीर और इसकी परिस्थिति ही उसकी प्रयोगशाला है, परन्तु जैसे प्रयोगशालामें परीक्षा करनेवाला वैज्ञानिक कार्य्यमें सफलताकी दृष्टिसे अनुकूल परिस्थिति चाहता है, वैषम्य और विकटतासे बचता, अपने उपकरणोंको अनुकूल दशामें रखता है, प्रयोगकी प्रत्येक दशापर निगाह रखता है और अत्यन्त मनोयोगसे इन्द्रियोंका निग्रह कर एकाग्रचित्त हो, अपना सम्पूर्ण ध्यान उसी प्रयोगपर स्थिर रखता है, ठीक वैसे ही ब्रह्मज्ञानका जिज्ञासु, अद्वैतविज्ञानका परीक्षक, इन्द्रियों-का निग्रह करके अपने अन्तःकरणोंको अनुकूल दशामें रखकर अद्वैतवादकी प्रतिज्ञा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ब्रह्म सत्यं, जग-न्मिथ्या" आदिको अभ्यास द्वारा परखता है। जब उसे परीक्षा करते करते सत्यकी एवं सत्ताकी एकता प्रतीत हो जाती है, जब उसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, वह अद्वैतविज्ञानका आचार्य्य, परममन्त्रका द्रष्टा ऋषि, जीवन्मुक्तके पदपर पहुँच जाता है। उसे ही यह अधिकार है, और पूरा अधिकार है, कि ऊँचे स्वरसे इस बातकी विज्ञप्ति करे कि प्रतिज्ञा सिद्ध हो चुकी, सिद्धान्त स्थिर हो चुका, सत्यका रूप इस प्रकार है। अङ्कगणितकी किसी साधारण रीतिको आचार्य्यने पूर्णतया परख लिया और उसके जितने अवयव हैं सबको जाँचकर हस्तामलकवत् ज्ञान कर लिया, तभी उस रीतिको बच्चोंको सिखानेके लिए गणितकी पुस्तकोंमें स्थान दिया। उस रीति-पर जितनी बहस हुई थी, जिस प्रकार उसके अवयव जाँचे गये, जिन कठिनाइयोंसे उसकी रचना हुई उसका पता बच्चे-को नहीं है। उसे रीतिका रूप दिखा दिया गया और प्रश्न दे दिये गये। रीतिके यथोचित पालनसे जितने उत्तर आते हैं सब ठीक ठीक। बालक रीतियोंकी जाँच या अवयवोंकी

परखके झगड़ेमें न पड़ता है और न पड़नेकी आवश्यकता है। उसके लिए सीधी सड़क खोल दी गयी है, वह उसपर सरपट भागकर अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच जाता है। उसे जंगल काटने, काँटे कुसे साफ़ करने, गड्ढोंको पाटने, समतल करने, कूटने पीटनेकी ज़रूरत नहीं पड़ती। यह काम पहलेसे लोग कर चुके हैं "महाजनो येन गतः स पन्था।"

जहाँ हर एकके लिए नयी सड़क खोलना, अपना नया मार्ग निकालना सम्भव नहीं होता वहाँ पुरानी राहसे चलना ही बुद्धिमत्ता समझी जाती है। जहाँ हर एक राजनैतिक किसी विशेष प्रयोगके करने वा परीक्षाके दुहरानेमें समर्थ नहीं होता वहाँ पहलेके प्रयोगकर्त्ताओंकी सचाई और सद्-बुद्धिपर ही विश्वास करना पड़ता है। युद्धके पहले रेडियम नामक किरण-विकीरक धातु सैकड़ों मन खनिजको साफ़ करके कुछ रत्तियोंकी मात्रामें निकाली गयी और परिश्रमी वैज्ञानिकने उसे संसारके गिनेचुने चार पाँच भारी वैज्ञानिकोंमें बाँट दिया। यूरोपीय युद्धने संसारका नक़शा बदल दिया और रेडियमकी दुर्लभता ज्योंकी त्यों हो गयी। लाखों रुपयेमें रत्ती भर ख़रीदनेको किस वैज्ञानिकके पास धन है? परन्तु जिनके पास रेडियम है उन्होंने परीक्षापर परीक्षा करके रेडियमका एक बृहत् साहित्य तैयार कर दिया जिसे और वैज्ञानिक पढ़कर विश्वास करके ही सन्तुष्ट रह जाते हैं। यद्यपि अद्वैतवाद और विकासवादकी परखके लिए वैसी दुर्लभता नहीं है तथापि इस संसाररूपी पाठशालामें जो बहुत ऊँची कक्षाओंमें पढ़ते हैं वही परीक्षा और प्रयोगकी हिम्मत कर सकते हैं। शेष सभी "सत्यार्थी" आचार्य्योंके वाक्यको ही प्रमाण मानकर आगेके सवालोंको हल करते हैं।

अद्वैतवादके आचार्य्योंने श्रुतिके महावाक्योंकी, वेदान्तके सत्योंकी, पहलेसे परीक्षा कर रखी है। यह प्रतिज्ञायें सिद्धान्तरूप ग्रहण कर चुकी हैं। यह नुस्ख़े अनेक वार आज़माये जा चुके हैं और ठीक ठीक पाये गये हैं। रोगके निवारणमें यह रामवाण समझे गये हैं। इसीलिए विश्वासके ऊपर ही यह नुस्ख़े संसार-रोगीको दिये जाते हैं। इस संसाररूपी पाठशालाके बालकको पहले उच्चाभिलाषा वा श्रद्धाका पाठ पढाया जाता है और इसका मन्त्र "अयं खलु क्रतुमयः पुरुषः" वा "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः" जब उसके हृदयमें दृढ़तासे सचित हो जाता है,—जब उसे अपनी बड़ी विरासत, भारी मिलकियत, वेइन्तिहा दौलतका ज्ञान हो जाता है तब वह इच्छा करता है कि हम इस अतुल धनके अधिकारी हैं तो क्यों न इसका भोग करें।

"आनंदसिन्धु-मध्य तव वासा।
बिन जाने कत मरसि पियासा॥"

जब मनमें श्रद्धा और ज्ञानकी पुष्टि हो गयी, विश्वास पूरा हो गया, इच्छा उत्कट हुई, प्रवृत्ति प्रबल हुई, तभी यह जीव क्रियाकी ओर झुकता है, अपनी उन्नतिके मार्गमें क़दम बढ़ाता है, तरक़्क़ीके ज़ीनेपर पाँव रखता है। जीव ज्ञान, इच्छा, क्रिया इन तीनोंका पुतला है और क्रियाकी प्रवृत्ति उत्कट इच्छापर और सदिच्छाका आविर्भाव ज्ञानपर अवलम्बित है। जबतक यथावत् ज्ञान नहीं हुआ है जबतक मोहका पर्दा दूर नहीं हुआ है, अज्ञान उसे निकम्मी इच्छाओंपर प्रवृत्त करता है और क्रिया विषयोंके सुखके ही सम्पादनमें लग जाती है। किसी सदुपदेशका सहारा न पाकर, पहलेके पारखियोंकी

सहायताके अभावमें, परीक्षापर परीक्षा करता है, और ठोकर-पर ठोकर खाता है। यद्यपि अनुभवसे अन्ततः फिर भी सँभलेगा, सुखके बदले दुःखके बढ़नेसे विषयके मार्गसे अवश्य मुँह मोड़ेगा, परन्तु समय बहुत लग जायगा। इसीलिए अधिक सुभीता इसीमें है कि वह पूर्वानुभवसे सिद्ध उपदेश-पर ही कार्य्य करे, चाहे वह भक्तिके भावसे हो चाहे ज्ञानके उपार्जनकी दृष्टिसे हो। साधन आरम्भमें चाहे दो जान पड़ते हों परन्तु साध्य एक ही है।

समय बचाना और भरसक जल्दी ही संसारके रोगोंसे मुक्त होना इष्ट होनेपर जीवको स्वयं उन उपायोंकी खोज होती है जिनसे अभीष्टसिद्धि हो सकती है। इन्हीं उपायोंके समूहको आध्यात्मिक पक्षवाले भिन्न भिन्न नामोंसे सम्बोधन करते हैं, परन्तु इस स्थलपर हम उसे केवल "उपासना" नामसे उल्लेख करके उसके प्रकारों और रीतियोंपर विचार करेंगे।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बारहवें अध्यायमें उपासना दो प्रकारकी बतलायी है, व्यक्त और अव्यक्त, जिन्हें दूसरे शब्दोंमें सगुण और निर्गुण उपासना कहते हैं। इन दोनोंमें अव्यक्तकी अपेक्षा व्यक्त, निर्गुणकी अपेक्षा सगुण, उपासना सुलभ बतायी गयी है। जो लोग उस परम-आत्माकी उपासना अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, विभु, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, सर्व-भूतात्माके भावसे करते हैं, उसीके ध्यानमें उसीकी धारणामें, इन्द्रियोंको नियमोंमें जकड़कर, सर्वत्र समबुद्धि रखकर, समस्त प्राणियोंका हित करते हुए, निरन्तर लीन रहते हैं, वह निर्गुणके उपासक कहलाते हैं। परन्तु साधकके लिए आरम्भहीमें इस ढँगकी उपासना अत्यन्त कठिन होगी। संसारके बन्धनोंमें फँसा, माया मोहमें जकड़ा हुआ

प्राणी अचिन्त्यकी चिन्तना, अनिर्देश्यका ध्यान, कूटस्थकी पूजा और सब जीवोंके हितमें लगे रहकर सर्वभूतात्माकी सेवा करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। उसे स्वभावतः खोज होगी उसकी जो चिन्त्य हो, ध्येय हो, पूजा सेवामें जिसतक पहुँचनेमें अधिक कठिनाई न हो। अनेक कालसे विषयोंके सुखमें भरमता हुआ मन किसी इन्द्रिय-ग्राह्य, गोचर, व्यक्त आदर्शको चाहता है जहाँ उसकी पहुँच हो, जहाँ उसकी आवाज़ तो कमसे कम पहुँच सके, जिसके लिए श्रुति कहती है

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"

जहाँ आवाज़ोंकी गति नहीं, मन जिसे पा नहीं सकता, साधारण पचीस तत्त्वोंवाला प्राणी उसकी भक्ति क्या करे! इसीलिए उसके लिए बड़े अच्छे अच्छे आदर्श बताये गये हैं। जन्म जन्मसे मनकी प्रवृत्ति किसी न किसी ओर लग आयी है, अतः किसीको भगवान् श्रीकृष्णकी कल्पना रुचती है तो किसीको श्रीरामचन्द्रजीका भजन अच्छा लगता है और किसी-को भक्तभावन भोलानाथकी भक्ति भा जाती है, अपनी अपनी भावनाके अनुसार उपासक अपने आदर्शकी कल्पना करता है, अपने आदर्शमें समस्त कायिक वाचिक मानसिक सद्-गुणोंका आरोप करता है, कल्पनाके आकाश-मण्डलमें उसे सबसे ऊंचा स्थान देता है, परमात्माका सगुणरूप उसे ही मानता है, औरोंके आदर्शोंका निरादर वा अवहेलना न करके अपने आदर्श वा इष्ट-देवताको सम्पूर्ण व्यक्त ब्रह्म और दूसरों-के आदर्श देवोंको उसके अङ्ग वा उसके अन्तर्गत मानता है—और यह ठीक ही है, क्योंकि जब सभी गुणोंका मिलान करता

है तो उसे प्रतीत हो जाता है कि परम सत्य उपासक-रूपी अन्धोंका हाथी है।

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

ज्यों ज्यों मन अपने आदर्शकी उपासनामें लीन होता जाता है, त्यों त्यों जितने अच्छे गुणोंका आरोप उस आदर्शमें उसने किया है, व्यक्तिगत चरित्रमें भी वही गुण उतरते आते हैं, उनका निरन्तर ध्यान रहनेसे वही गुण स्वाभाविक होते जाते हैं। भक्त धीरे धीरे अपने उपास्य देवताके ही अनुरूप बनता जाता है। इस क्रियाका अन्त कहाँ जाकर होगा? उसी आदर्शतक। वह पहले उसी वायुमण्डलमें, उसी विचारमें, उसी ध्यानमें पग जायगा जिसमें उसके इष्टदेवका निवास है, वह "सालोक्य" पद पाता है। क्रमशः वह अपने इष्टदेवकी अनुचर्य्यामें, उसके लीलानुकरणमें उसके समीप होता जायगा, "सामीप्य"पदका अधिकारी होगा। जब अनुकरणमें पक्का पोढ़ा हो गया, उसके आचरण उसके चरित्र अपने इष्ट-देवके अनुरूप ठीक ठीक ढल गये, वह "सारूप्य" पदका अधिकारी होता है। परन्तु वह यहाँ भी ठहर नहीं सकता, वह अपने परम प्रियतमसे मिल ही जाता है, "सायुज्य" मुक्ति पाता है।

आदर्श वा इष्टदेवके उपासक उपासनाकी आसानीके लिए अपने आदर्शके (१) नाम (२) रूप (३) लीला (४) धाम (५) ध्यान और (६) धारणाको अपना ध्येय बना लेते हैं। कोई नामसे ही नामीकी याद करते हैं, कोई रूपके ध्यानमें मस्त रहते और मूर्त्तिकी कल्पना करते हैं, और सोलहों उपचारसे उसकी पूजा करते हैं। कोई उसकी लीलाओंका, उसके चरित्रों-का अनुकरण करके अपनेको उसके अनुरूप बनाते हैं, कोई

उसके स्थानोंकी कल्पना करके उसके चरणोंसे अंकित तीर्थोंके पदरज अपने सिर चढ़ाते हैं,—निदान सच्चा भक्त सच्चा आशिक़ और सच्चा प्रेमी होता है, अपने इष्टदेव लैलाके इश्क़में मजनूँ बन जाता है, उसके चरित्र अलौकिक हो जाते हैं, वह परमाणु परमाणुमें, ज़र्रे ज़र्रेमें उसीको देखता है, उसीकी विभूति पाता है। उसकी आँखोंमें जब प्यारा समाया तो जहाँ निगाह पड़ी प्यारा ही प्यारा नजर आया। उसकी इन्द्रियाँ उसके अन्तःकरण सभी उसके आदर्शसे परिपूर्ण हो जाते हैं, अपने इष्टदेवकी कल्पनाकी बाढ़में उसका सारा संसार बह जाता है और इस महाप्रलयमें एक उसका आदर्श ही आदर्श रह जाता है। वह अपने आपेको केवल भूल ही नहीं जाता बल्कि उसी प्राणप्यारेपर निछावर कर देता है, अपना सारा आपा उसे अर्पण कर देता है, अपने आपको अपने आदर्श इष्टदेवके समुद्रमें डुबो देता है और रह क्या जाता है—वही

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

तत्त्वमसि

अयमात्मा ब्रह्म

साधनकी इस रीतिमें यह शंका उठ सकती है कि मिथ्या जगतकी मिथ्या कल्पनाके आधारपर इस परम सत्यतक पहुँचना कैसे हो गया? अपने उपास्यदेवको अपनेसे अलग मानते मानते भी एकता वा अद्वैत कैसे प्राप्त हो गया? इसपर हम केवल अपने पूर्वगत प्रकरणोंका निर्देश करके यह कहेंगे कि उपासकका आदर्श सच्चा था, उसकी कल्पनाएँ सच्ची थीं, जिस प्रकार यह जगत् ब्रह्मकी कल्पना है, ब्रह्मकी रचना है उसी प्रकार उसका आदर्श भी भक्तकी रचना है, परन्तु

मसाला वही है, सामग्री वही है, फिर अन्ततः सामग्रीकी सामग्री, मसालेका मसाला ही तो रह जाता है। हलवाईने शकरका घोड़ा, हाथी, गाय, बकरी, कुत्ता, बिल्ली सब कुछ बनाया, पर इन सबमें है तो वही शकर! ज़बानपर रखते हैं तो स्वाद तो एक ही है, मज़ा तो शकरका ही है! जबतक चेतनरूपसे उपासना कर रहा है तबतक तो वह, वस्तुतः सम्पूर्णका अंश ही है, अंश जब पूर्णसे मुखातिब होगा, कोई एक अंग जब सारे शरीरसे बोलेगा तो अंग अंगीभावसे, अपनेको अंग, भाग या टुकड़ा और शरीरको सम्पूर्ण अवश्य ही मानेगा।

भक्तिमार्गसे ऐसा भी नहीं कि ज्ञान न प्राप्त हो। आखिर सच्चा ज्ञान है क्या, यही न, कि सब एक ही है, ब्रह्म ही है? भक्त तो अन्ततः इसी ज्ञानका साक्षात्कार करता है, इस ज्ञानका नाम ज्ञान न रखकर भी उसको अपना लेता है, वह केवल ज़ुबानी ज्ञानी नहीं बनता, वह अपनेको ज्ञानरूप कर डालता है, ज्ञानकी मूर्त्ति बन जाता है। यदि "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" सच है, तो वह भक्ति द्वारा ज्ञानको ही तो अपना ध्येय बनाता है? उसकी भक्ति सच्चे ज्ञानका बड़ा अच्छा साधन है। शिक्षाविज्ञानके विद्वान जानते हैं कि अव्यक्त गणितकी अपेक्षा व्यक्त गणित कल्पनामें जल्दी आती है, और आखिर उसके कठिन सवालोंको हल करके कैसे समझाते हैं? खड़िया मिट्टी और काले तख्तेके सहारे। जब प्रश्नका उत्तर मिल गया, क्रिया समझमें बैठ गयी, फिर न खड़िया मिट्टीकी आवश्यकता रही, न काले तख्तेकी ज़रूरत। इस दृष्टिसे प्रतिमा-पूजा कोई ऐबकी बात नहीं है। यदि हम काले तख्ते और खड़ियाको ही गणित समझ लें तो गणितकी दुर्दशा हो जायगी। यदि हम काठ मिट्टी या पत्थरको ही आदर्श मानें

तो भक्ति क्या होगी ? इसी प्रकार जो मतलबकी मुहब्बत होती है, उसे भी प्रेम कहना प्रेमकी दुर्दशा है। बेटे-बेटी, धन-दौलत सांसारिक वस्तुओंको माँगनेके लिए, आशा वा भयसे देवताकी पूजा उपासना या भक्ति नहीं है, प्रत्युत अपनी संकल्प-शक्ति, इच्छाके बलका दुरुपयोग है। इस शक्तिको हम जहाँ चाहें लगायें, इस औज़ारसे हम जो चाहें काम लें, पर हमारा ध्येय यदि सत्यतक पहुँचना नहीं है, केवल किसी ऐहिक इच्छाकी पूर्त्ति है, तो हम सत्यतक पहुँच कैसे सकते हैं ? "रोपै पेड़ बबूलको, आम कहाँसे होय।" इसीलिए गीतामें बार-बार यही उपदेश किया है कि "कर्त्तव्य कर्म करते रहो, फलसे सरोकार न रखो।" यही सच्ची पूजा और अर्चा है। भक्ति निष्काम होनी चाहिए। मुहब्बत या इश्क़ अपने महबूब या माशूकको ही चाहता है, प्रेम अपने प्रेमपात्रको ही अपना लक्ष्य रखता है, उसके वैभव, उसके धन, उसके बलकी कामना नही करता। यद्यपि उस प्राणप्यारेके मिलते ही सभी मिल जायँगे, परन्तु उस आनन्दसागरकी इच्छा करनेवाला सुख-सीकर, आनन्दकी एक बूँदके पीछे क्यों मरने जायगा। भक्तोंके उदाहरण, उनके चरित, जिनसे हिन्दूसाहित्य भरा पड़ा है, इसके लिए प्रमाण है।

निर्गुण वा अव्यक्तकी उपासना कम आनन्दप्रद नहीं है, लक्ष्य वही है, मार्ग अत्यन्त पासका है। पहाड़की चढ़ाईमें सीधे ऊपरको जानेमें बड़ा कड़ा परिश्रम, सख़्त मिहनत पड़ती है, परन्तु मार्ग सीधा और अत्यन्त पासका होता है, पर लोग साधारणतया तिरछे मार्गोंसे घूमकर दूरके रास्तेसे जाते और कोसोंका चक्कर लगाकर निर्दिष्ट स्थानको पहुँचते हैं। इसी तरह निर्गुण उपासना सीधे ऊपरकी चढ़ाईकी तरह कठिन है

पर मार्गकी दूरी अत्यन्त कम है। भक्तिमार्गसे चढ़ाईका परिश्रम कम है, पर राह दूरकी है। यहाँ भक्तिमार्गका किंचिन्मात्र दिग्दर्शन हुआ है। अव्यक्तकी उपासनाके प्रकार और रीतिका वर्णन जैसा ब्रह्मलीन स्वामी रामतीर्थने किया है वैसा रोचक और सुबोध वर्णन असंभव है। इसलिए हम उस अंशको ही यहाँ उद्धृत करते हैं*।

उपासना दो प्रकारकी प्रसिद्ध है—

प्रतीक और अहंग्रह

प्रतीक उपासनामें बाहरके पदार्थोंमें पदार्थदृष्टि हटाकर ब्रह्मको देखना होता है। अहंग्रह उपासनामें अपने अन्दर जो अहंता ममता कल्प रखी है उससे पल्ला छुड़ा ब्रह्म ही ब्रह्म देखना होता है। यदि बाहरके प्रतीकको सत्य जानकर ईश्वरकल्पना उसमें को जाय तो वह ईश्वर उपासना नहीं तिमिरपूजा वा "बुतपरस्ती" है। इसीपर व्यासजीके ब्रह्म-मीमांसा दर्शनके अध्याय ४ पाद १ सूत्र ५ में यों आज्ञा की है—

ब्रह्म दृष्टिरुत्कर्षात् ॥

अर्थात् प्रतीकमें ब्रह्मदृष्टि हो, ब्रह्ममें प्रतीकभावना मत करो। और अहंग्रह उपासनाके सम्बन्धमें यों लिखा है:—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥

ब्रह्ममीमांसा ४, १, ३।

---

* स्व० रायबहादुर लाला बैजनाथ द्वारा सम्रहीत शास्त्रोक्तोपासना नामके ग्रन्थमें स्वामीजीकी लिखी प्रस्तावना।

अर्थात् ब्रह्मको अपना आत्मा (अपना आप) वारम्बार चिन्तन करो। वेदका यही मत है और यही उपदेश। इन दोनों प्रकारकी उपासनामें अभिप्राय और लक्ष्य एक ही है, वह क्या?

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ॥

छां० उप०

ठंढी छातीसे अन्दर बाहर ब्रह्म ही ब्रह्म देखो।

अथ खलु क्रतुमयः पुरुष. ॥

जैसा भी पुरुषका विचार और चिन्तन रहता है वैसा ही वह अवश्य हो जाता है, तो ब्रह्मचिन्तन ही क्यों न दृढ़ किया जाय। अर्थात् अपने आपको ब्रह्मरूप ही क्यों न देखते रहें। इसीपर श्रुतिका वचन है—"ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति" ॥ अहंग्रह और प्रतीक उपासना दोनोंमें नामरूप संसार (बुत)-को ढाना इष्ट होता है बनाना नहीं। जल ब्रह्म है, स्थल ब्रह्म है, पवन ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है, गङ्गा ब्रह्म है इत्यादि प्रतीक उपासनाका रूपदर्शक वाक्योंमें जल, पवन, आकाश आदिके साथ ब्रह्मको कहीं जोडना (संकलन करना) नहीं है। जैसे यह सर्प काला है, इसमें सर्प भी रहता है और काला भी। किन्तु यहाँ तो बाधसमानाधिकरण है, जैसे किसी भ्रान्तिवालेको कहें यह सर्प रस्सी है। यहाँ रस्सी काले रज्जुकी तरह सर्पके साथ समान सत्तावाली नहीं है, किन्तु रस्सी ही है सर्प है नहीं। इसी तरह सच्ची उपासना वह है कि धारारूप जल-दृष्टि न रहे, ब्रह्म चित्तमें समा जाय। स्पन्दरूप पवन दृष्टिसे गिर जाय, ब्रह्म सत्तामात्र ही भान हो, प्रतिमामें प्रतिमापन उड़ जाय, चैतन्य स्वरूप भगवान्‌की झांकी हो। जैसे किसी

प्रेमके मतवाले घायलने प्यारेका प्रेमपत्र पढ़ा, उसकी दृष्टि तो प्यारेके स्वरूपसे भर गयी अब पत्र किसको दीख पड़े (गोपियाँ उद्धवसे कहती हैं यह पाती अब कहाँ रखें, छातीसे लगाती हैं तो जल जायगी, आँखोंपर धरती हैं तो गल जायगी)। उपासनामें मननके लिए इन्द्रियज्ञान तो एक छेड़ जैसी रह जायगी। प्यारेने चुटकी भरी, चुटकी वस्तुतः कोई चीज़ नहीं है, प्यारा ही वस्तुरूप है। इसी तरह सब इन्द्रियों-का ज्ञान एक ही प्यारेकी छेड़छाड़रूप प्रतीत होगा—

आयी पवन ठुमक ठुमक, लायी बुलावा श्यामका।

भाई उपासना तो इसीका नाम है जिसमें ज़ुबानका हिलना तो क्या है शरीरकी हड्डी और नाड़ीतकके परमाणु परमाणु हिल जायँ। यह नहीं तो, आँख मूँदो, नाक मूँदो, कान मूँदो, मुख मूँदो, गाओ चाहे चिल्लाओ तुम्हारी उपासना बस एक चित्ररूप है जिसमें जान नहीं। बड़ा सुन्दर चित्र सही, रवि वर्म्माका मान लो, पर खाली तसवीरसे क्या है!

पदार्थोंमें इस ब्रह्मदृष्टिको दृढ़ करना और विषय भावना-का मिटानारूपी उपासना कुछ वैसा अध्यारोप (कल्पना) शक्तिको बढ़ाना और बरतना न जान लेना जैसा शतरंजमें काठके टुकड़ोंको बादशाह वज़ीर, हाथी, घोड़ा, प्यादा मान लेते हैं। जल ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, मन ब्रह्म है इत्यादि उपासनाके रूप तो अवस्तुको मिटाकर वस्तु भावना जमाते हैं। यदि यह खाली मान लेना और कल्पनामात्र भी हो तो वैसी कल्पना है जैसे बालक गुरुजी-के कहने से गुणा करने और भाग देनेकी रीतिको मान लेता है, भाग देने गुणा करनेकी यह विधि क्यों ऐसी है और क्यों

नहीं, इस रीतिद्वारा उत्तरके ठीक आ जानेमें कारण क्या है ? यह बातें तो पीछे आयेंगी जब बीजगणित (अलजबरा) पढ़ेगा। परन्तु उस गुरु या रीतिपर विश्वास करनेसे उदाहरण सब अभी ठीक निकलने लग पड़ेंगे। पर खबरदार! गुरुजी के बताये हुए गुरु या रीतिको ही औरका और समझकर मत याद करो।

प्रतिमा क्या है ? जिससे मान निकाला जाय, मापा जाय, तोला जाय, (unit of measurement) जब तोलनेका बट्टा छोटा हो तो तोलका मान बड़ा होता है, जैसे तोलनेका बट्टा १ पाव होनेपर यदि किसी चीज़का मान चार हो तो बट्टा एक छटाँक होनेपर मान सोलह होगा। अब हिन्दू धर्मके यहाँ प्रतीक और प्रतिमा क्या थे ? ईश्वरको तोलनेका बट्टा। हिन्दूधर्ममें अति उच्च सूर्य्य चन्द्रमारूपी प्रतीक भी हैं। इससे उतरकर गुरु ब्राह्मणरूप हैं, गौ गरुडरूप भी, अश्वत्थ वृंदारूप भी, कैलास गङ्गारूप भी और ठिगनेसे गोल मोल काले पत्थरको भी प्रतिमा (प्रतीक) रूप स्थापित कर दिया है, यह छोटेसे छोटा प्रतीक क्या परमेश्वरको तुच्छ बतानेके लिए था ? नहीं, प्रतीकका छोटा करना तो इसलिए था, कि ईश्वरभाव और ब्रह्मदृष्टिका समुद्र बह निकले, जब उस नन्हे से पत्थरको भी ब्रह्मदेखा, तो बाकी अखिल पदार्थ और समस्त जगत् तो अवश्यमेव ब्रह्मरूप भान हुआ चाहिये। परन्तु जिसने मूर्त्तिपूजा इस समझसे की, कि यह ज़रासा पत्थर ही ब्रह्म है, वह हो गया "पत्थरका कीड़ा"।

परा पूजा

पदार्थके आकार, नाम रूप आदिसे उठ करके उसके आनन्द और सत्ता-अंशमें चित्त जमाना। पद या शब्दसे उठ-

कर उसके अर्थमें जुड़नेकी तरह चर्मचक्षुसे दृश्यमान सूरत-को भूल ब्रह्ममें-मग्न-होना-रूपी जो उपासना है, क्या वह किसी न किसी नियत प्रतीकद्वाराही करनी चाहिये? प्रतीक तो बच्चेकी पाटीकी तरह है, उसपर जब लिखनेका हाथ पक गया तो चाहे जहाँ लिख सके। ब्रह्मदर्शनकी रीति आ गयी, तो जहाँ दृष्टि पड़ी ब्रह्मानन्द लूटने लगे। प्रतीक उपासना तब सफल होती है जब वह हमें सर्वत्र ब्रह्म देखनेके योग्य बना दे। सारा संसार मन्दिर बन जाय, हर पदार्थ रामकी झाँकी कराये और हर क्रिया पूजा हो जाय।

जेता चलूँ तेती परदखिना, जो कुछ करूँ सो पूजा।
गृह उद्यान एक सम जान्यो, भाव मिटायो दूजा॥

सच्ची और जीती उपासना जिनके अन्दर यौवनको प्राप्त होती है, उनकी अवस्था श्रुति (तैत्तिरीय शाखा) यों प्रतिपादन करती है—

या बुद्ध्यते सा दीक्षा यदश्नातितद्धवि.
यत्पिबति तदस्य सोमपानं, यद्रमते तदुपसदो।
यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च प्रवर्ग्यो,
यन्मुखं तदा हवनीयो, याव्याहृति राहुतिः
यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति॥

मुक्ति शान्ति और सुख चाहो, तो भेद भावका मिटाना और ब्रह्मदृष्टिका जमाना ही एकमात्र साधन है।

यह दृष्टि क्यों आवश्यक है? क्योंकि वस्तुतः यही वार्त्ता है—

ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या॥

अगर गर्मी, भाप, बिजली आदिके क़ानूनोंके अनुसार रेल, तार, बैलट आदि यन्त्र बनाओगे तो चल निकलेंगे, और

क़ानूनको भुलाकर लाख यत्न करो, अँधेरी कोठरीसे कहाँ निकल सकते हो, अब देखो, यह आध्यात्मिक क़ानून (अभेद भावना) तो तत्त्वविज्ञान या सायंसके सब नियमोंका नियम है, जो वेदमें दिया है। इसे बर्तावमें लाते हुए क्योंकर सिद्धि हो सकती है। अमरीकाके महात्मा (Emerson) अमरसेनने अपनी निजके प्रतिदिनकी अनुभूत परीक्षा रूहानी तजरुबेको पक्षपातरहित देख देखकर क्या सच कह दिया है "किसी वस्तुको दिलसे चाहते रहना अथवा दाँत निकालकर अधीन भिखारीकी तरह दूसरेकी प्रीतिका भूखा रहना, यह पवित्र प्रेम नहीं है। यह तो अधम नीच मोह है। केवल जब तुम मुझे छोड़ दो और खो दो और उस उच्च भावमें उड़ जाओ जहाँ न मैं रहूँ न तुम, तब तो मुझे खिचकर तुम्हारे पास आना पड़ता है और तुम मुझे अपने चरणोंमें पाओगे। जब तुम अपनी आँखें किसीपर लगा दो और प्रीतिकी इच्छा करो, तो उसका उत्तर तिरस्कार और अनादर बिना कभी और कुछ नहीं मिला, न मिलेगा। याद रखो।"

भाई, इसमें पन्थाई झगड़ोंकी क्या आवश्यकता है ? हाथ कङ्गनको आरसी क्या है ? अगर क्लेशरूपी मौत मंज़ूर नहीं तो शान्तिपूर्वक अपने चित्तकी अवस्था और उसके दुःख सुखरूपी फलपर एकान्तमें विचार करना आरम्भ कर दो, सच झूठ आप ही निथर आयेगा। अगर तुममें विचारशक्ति रोगग्रस्त नहीं है तो खुद-बखुद यह फैसला करोगे कि चित्तमें त्यागअवस्था और ब्रह्मानन्द हुए ऐश्वर्य्य सौभाग्य इस तरह हमारे पास दौड़ते आते हैं जैसे भूखे बालक माँके पास—

यथाहि क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।

अब हमारे अन्दर सत्त्व गुण और शान्तिरूपी विष्णु

होगा, तो लक्ष्मी अपने पतिकी सेवा हज़ारोंमें करेगी, हमारे दर्वाजेपर अपने आप पड़ी रहेगी।

कई मनुष्य शिकायत करते हैं कि भक्ति और धर्म्म करते भी दुःख दरिद्र उन्हें सताते हैं और अधर्मी लोग उन्नति करते जाते हैं। यह दुखिया भोलेभाले कार्यकारणके निर्णय करनेमें अन्वय व्यतिरेकको ही वर्त्त रहे हैं। इनको यह मालूम ही नहीं कि धर्म क्या है और भक्ति क्या। स्वार्थ और ईर्षा अर्थात् (देहाभिमानको) तो उन्होंने छोड़ा ही नहीं जिसका छोड़ना ही धर्मको आचरणमें लाना था, अब उनका यह गिला कि धर्मको वर्तते वर्तते दुःखमें डूबे हैं क्योंकर युक्त वा सत्य हो सकता है? अगर धर्मको वर्ता होता, तो यह शिकायत जिसमें स्वार्थ और ईर्षा दोनों मौजूद हैं कभी न करते। वह दान और भजन भी धर्ममें शामिल नहीं हो सकते जिनसे अहंकार और अभिमान बढ़ जायँ। जहाँ पापी फलता फूलता पाते हो वहाँ सुख भोगका कारण ढूँढ़ो तो उस पुरुषका चित्त आत्माकार और एकान्त रहा था जो तुमने देखा नहीं और उसके पापकर्मका परिणाम खोजो तो महा क्लेश होगा जो अभी तुमने देखा नहीं।

तुमपर किसीने व्यर्थ अत्याचार किया है तो अहंकाररहित होकर पक्षपात छोड़कर तुम अपना अगला पिछला हिसाब विचारो। तुमको चाबुक केवल इसलिए लगा कि तुमने कहीं अयुक्त रजोगुणमें दिल दे दिया था, आत्मसन्मुख नहीं रहे थे, रामके कानूनको तोड़ बैठे थे। मनके ब्रह्माकार न रहनेसे यह सज़ा मिली, अब उस अनर्थकारी वैरीसे जो बदला लेने और लड़ने लगे हो, ज़रा होशमें आओ कि अपनी पहली भूलको और चौगुना और पाँचगुना करके बढ़ा रहे

हो और प्रतिक्रियासे उस अपराधी रूप जगत्‌के पदार्थको सत्य बना रहे हो और ब्रह्मको मिथ्या।

बचा! याद रखो—ऐंठो तो मरो, उरदके आटेकी तरह सुके न खाओ और बार बार पटके न आओगे सो कहना। प्रायः लोग औरोंके क़ुसूरपर ज़ोर देते हैं और अपने तईं बेक़सूर ठहराते हैं। हाँ, प्रत्यगात्मारूप जो तुम हो त्रिकाल निष्कलंक ही हो। पर अपनेतईं शुद्ध आत्मदेव जान भी रहो, तुपड़ी और दो दो पयाँकर बने, अपने आपको शरीर मन बुद्धिसे तादात्म्य करना और बनकर दिखाना निष्पाप, यही तो घोर पाप है, यही सब पापोंकी जड़। अब देखो जो रुद्ररूप क़ानून तुमको सत्यस्वरूप आत्मासे विमुख होनेपर सन्ताप बिना कभी नहीं छोड़ता वह ईश्वर उस अत्याचारी तुम्हारे वैरीकी बारी क्या मर गया है? कोई उस त्र्यम्बककी आँखोंमें नोन नहीं डाल सकता, बस तुम कौन हो ईश्वरके क़ानूनको अपने हाथमें लेनेवाले? तुझको पराई क्या पड़ी अपनी नबेड़ तू। बदला लेनेका ख़याल विश्वासशून्य नास्तिकपन है।

ओ प्यारे, मेरे अपना आप, द्वेषातुर मूर्ख! जितना औरों-को चने चबवाये चाहता है उतना अपनेतईं ब्रह्मध्यानकी खाँड खीर खिला। वैरीका वैरीपन एकदम उड़ न जाय तो सही। ब्रह्म है और ब्रह्मको भूल जाना ही दुःखरूप झमेला है। जो तुम्हारे अन्दर है वही सबके अन्दर है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ॥

जब तुम अन्दरवालेसे बिगड़ते हो तो जगत् तुमसे बिग-ड़ता है, जब तुम अन्दरका अन्तर्यामीरूप बन बैठे तो जगत्-

रूपी पुतलीघरमें फसाद तो कैसा, किस काठके टुकड़ेसे चूँ भी हो सकती है ?

> यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो, यं मनो न वेद,
> यस्य मनः शरीरं, यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त
> आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

जब तुम दिलके मक्कर छोड़कर सीधे हो जाओ तो तुम्हारे भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों काल, उसी दम सीधे हो जायंगे।

प्यारे! जैसे कोई मनुष्य मोटा ताजा बग्घीमें जा रहा हो तो तुम जानते हो कि उसकी मोटाई फिटनमें गद्दे तकियोंसे नहीं आई उसकी पुष्टिका कारण हिन्हिनाती हुई सब्बरें नहीं हैं, बल्कि अन्नको पचानेसे शरीर बढ़ा फैला है। इसी तरह जहाँ कहीं ऐश्वर्य्य और सौभाग्य देखते हो उसका कारण किसीकी चलाकी फन्द फरेब कभी नहीं हो सकते। कस्में दिलाकर पूछ देखो। जिस हद्दतक चालाकी फन्द फरेब बर्ते गये उस हद्दतक ज़रूर हानि (नाकामयाबी) हुई होगी। आनन्द सुखका कारण और कुछ नहीं था सिवाय ज्ञाततः अथवा अज्ञाततः चित्तमें ब्रह्मभाव समाने के। यह अन्न खाते तुमने उसको नहीं देखा तो क्या! और वह खुद भी इस बातको भूल गया है तो क्या, (बच्चे कई दफा रातको दूध पीते हैं और दिनको भूल जाते हैं) पर भाई तेलको तो तिलोंहीसे आना है, सुख आनन्द इक़बाल कभी नहीं आ सकता बग़ैर आत्माकार वृत्ति रहनेके।

> यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
> तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

जब लोग चर्मकी तरह आकाशको लपेट सकेंगे तब देवको जाने बिना दुःखका अन्त हो सकेगा।

दृष्टान्त, प्रमाण, दलील, अनुमानसे तो यह सिद्ध है ही, पर मैं इस समय युक्ति उक्ति आदिको अपील नहीं करता, मैं तो बहुत नेड़े (समीप) का पता देता हूँ। यह तुम हो और यह तुम्हारी दुनिया है अब देख लो, खूब आँखें खोलो। जब तुम्हारे चित्तमें दुनियाँके सम्बन्धोंकी तुलना ईश्वरभावसे अधिक हो जाती है, जब 'मैं मेरा' भाव चित्तमें त्याग और शान्तिको नीचे दबाता है, तो जिस दर्जेतक "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" रूपी सत्यके आचरणसे उपेक्षा करते हो, उसी दर्जेतक दुःख खेद क्लेश तुम्हें मिलता है और अन्धकूपमें गिरते हो। वनस्पति (Botany) और रसायन विद्या (Chemistry) की तरह निजके तजरुबा और मुशाहिदा (परीक्षा और विचार observations and experiments) से यह सिद्धान्त सिद्ध है।

जगत्‌में रोग एक ही है और इलाज (औषध) भी एक ही। चित्तसे अथवा क्रियासे ब्रह्मको मिथ्या और जगत्‌का सत्य जानना एक यही विपरीत वृत्ति कभी किसी दुःखमें प्रकट होती है कभी किसीमें और हर विपत्तिकी औषध शरीर आदिको "हैं नहीं" समझकर ब्रह्माग्निमें ज्वालारूप हो जाना है।

लोग शायद डरते हैं कि दुनियाकी चीज़ोंसे प्रेम किया जायँ तो प्रेमका जवाब भी पाते हैं, परन्तु परमेश्वरसे प्रेम तो हवाको पकड़ने जैसा है, कुछ हाथ नहीं आता। यह धोखेका ख्याल है। परमेश्वरके इश्क़में अगर हमारी छाती ज़रा धड़के तो उसकी एकदम बराबर धड़कती है और हमें जवाब मिलता है बल्कि दुनियाके प्यारोंकी तरफसे मुहब्बतका जवाब तबही

मिलता है जब हम उनकी तरफसे निराश होकर ईश्वरभाव-हीकी ओट लेते हैं।

किसीने कहा लोग तुम्हें यह कहते हैं, कोई बोला लोग तुम्हें यह कहते हैं, कहीं हाकिम बिगड़ गया, कहीं मुकद्दमा आ पड़ा, कहीं रोग आ खड़ा हुआ। ओ भोले महेश! तू इन बातोंसे अपने तकलेमें व्यग्र न पड़ने दे, भरेंमें मत आ, तू एक न मान ब्रह्म बिना दृश्य कभी हुआ ही नहीं, चित्तमें त्याग और ब्रह्मानन्दको भर तो देख, सब बलाएँ आँख खोलते खोलते सात समुन्दरों पार न बह जायँ, तो मुझको समुद्रमें डुबो देना।

एक बालकको देखा दूसरे बालकको धमका रहा था, "आज पितासे तू ऐसा पिटेगा, कि सारी उमर याद पड़ा करे," दूसरे बालकने शान्तिसे उत्तर दिया "अगर वह मुझे मारेंगे तो भलेहीको मारेंगे न, तेरे हाथ क्या लगेगा?" इस बालकके बराबर विश्वास तो हम लोगोंमें होना चाहिये, भयंकर भयानक भावीकी भिनक पाकर बगुलेकी तरह गरदन उठाकर, घबराकर, "क्या? क्या?" क्यों करने लगें। आनन्दसे बैठ, मेरे यार! यहाँ कोई और नहीं है, तेराही परमपिता, बल्कि आत्मदेव है, अगर मारेगा भी तो भलेके लिये। और अगर तुम उसकी मर्ज़ीपर चलना शुरू कर दो तो वह पागल थोड़ा है, कि यूँ ही पड़ा पीटे।"

संसारके समस्त रोग थोड़े कालतक रहनेवाले शरीरकी नीच वासनाओंसे ही पैदा होते हैं।

अपनी इन्द्रियोंको सुख देनेके लिए आहार-विहारमें हम कितना अत्याचार करते हैं। अत्यन्त आलस्य या अत्यन्त

परिश्रम, अति निद्रा या अत्यन्त जागरण, स्वादके लिए अनुचित और अत्यधिक आहार, शरीरको रोगोंका घर बना देते हैं। समाजमें कोरा आदर मान पानेकी इच्छा हमसे चाटुकारिता और दम्भ कराती है, योग्यतासे अधिक चेष्टामें लगाती है, हमें बनने ठननेके लिए लाचार करती है, हमारी मानसिक, वाचिक, कायिक और आर्थिक शक्तियोंका अपव्यय कराती है। यश और नामकी अभिलाषा जितने पाखण्डमें लगाती है उसकी तो गिनती ही नहीं। धनलिप्सा और लोभवश झूठ बोलनेमें बेईमानी खुशामद आदि करनेमें मनुष्य सङ्कोच नहीं करता। राजनैतिक, सामाजिक, कायिक मानसिक सभी तरहके कष्ट भी इन्हीं कारणोंसे उठाता है। इन सब कष्टोंको, "संसृति रोग" कहते हैं और इस रोगका एक ही कारण कुवासना है और इसकी एक ही चिकित्सा है और वह यही है कि मनको, इन्द्रियोंको असार संसारकी वासनामें, सत्यकी खोजमें, परमात्माकी उपासनामें लगावे। यह नुस्खा निर्गुण और सगुण दोनों ही उपासनाओंमें काम आता है। मन और इन्द्रियोंपर अधिकार करना आवश्यक है। भेद इतना है कि सगुण उपासनामें इन्द्रियोंको विषयोंसे सर्वथा हटाते नहीं, प्रत्युत विषयोंमें इस प्रकार लगा देते हैं कि यद्यपि प्रवृत्ति उसी वस्तुपर है तथापि दिशा बदल गयी है, वह प्रवृत्ति इष्टदेवकी ओर चली गयी, विषय सभी इष्टदेवके हो गये। निर्गुणका उपासक इन्द्रियोंका निग्रह करता है, मनरूपी लगामको खींचे रहता है, विषयोंकी निःसारता खूब जानता है। उनकी ओर पहले तो निगाह उठाकर देखता भी नहीं और देखा भी तो त्यागके भावसे, उदासीनतासे उपेक्षासे—न विषयोंसे अनुराग है न घृणा, न राग है न द्वेष।

वाल्मीकि नामक ब्राह्मण पाण्डवोंके यहाँ भोजन करता है परन्तु सभी रसके व्यञ्जनोंको एकमें मिलाकर, स्वादके विचार-से नहीं, वरन् शरीरयात्राकी दृष्टिसे। ऋष्यश्रृंग वेश्याओंके सौन्दर्य्यपर निगाह भी डालता है तो नैसर्गिक शोभाकी दृष्टि से। वीणाकी मधुर चित्ताकर्षक झनकार जहाँ भक्तको अपने मनभावन इष्टदेवके मनमोहन मीठे स्वरोंकी याद दिलाती है वहाँ ज्ञानी इन्हींसे मुग्ध हो ब्रह्मपदका चिन्तन करता है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस मार्गमें बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ हैं—

"आवत एहिसर अति कठिनाई।
राम कृपा बिनु आइ न जाई॥
जड़ता जाड़ विषम उर लागा।
गयेहु न मज्जन पाव अभागा॥
जो बहोरि कोउ पूछन आवा।
सर निन्दा करि ताहि सुनावा॥
कठिन कुसंग कुपथ कराला।
तिनके बचन बाघ हरि ब्याला॥
संमुक भेक सिवार समाना।
इहाँ न विषय कथारस नाना॥
यहि कारन आवत हिय हारे।
कामी काक बलाक विचारे॥

इन कठिनाइयोंसे बचनेको, भजनके विघ्नोंको दूर करने-को, साधारण उपासकोंके लिए अपने मार्गके इन रुकावटों अटकाओं और रोड़ोंसे दूर रहना ही अच्छा समझा जाता है। "बाल अबुध सम भक्त अमानी" इनका मुकाबला नहीं

कर सकता और यह विघ्न ही मैदान मार ले जाते हैं। जैसे सपनेमें अपनी ही कल्पनाके रचे भयानक दृश्यसे डरा भागता है, उसी तरह साधक भी, जिसने स्वयं

निजकर्म्म डोरि दृढ़ कीन्ही, अपने करन गाँठ गहि दीन्ही।

अपने रचे विघ्न बाधाओंसे दूर रह कर ही सुभीता पाता है। वह विघ्नोंसे बचनेका उपाय न करे, निरुपाय हो, घर बार छोड़कर साधु हो जाय तो क्या आश्चर्य है—

सो सुख धरमु करमु जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ॥
जोगु कुजोगु ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परिधानू॥
जरउ सो सम्पति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहज सहाइ॥
" जो नैन कि बेनीर हैं, बेनूर भले हैं।
"जाके प्रिय न राम बैदेही,
तेहि त्यागिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।
तजेउ पिता प्रह्लाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तजेउ कन्त ब्रजबनितनि भे जग मंगलकारी।"
तजौरे मन हरि विमुखनको संग।
जाकी संगति कुमति ऊपजै परत भजन महँ भंग।

परन्तु विघ्न बाधाएँ उसे कब छोड़ती हैं? वह ज्यों ज्यों इनसे दूर भागता है, छायाकी तरह संग लगी रहती हैं। सपनेका भूत अपनी ही रचना तो ठहरा। जबतक जागते नहीं उसकी असत्यता नहीं पहचानते तबतक तो सताया ही चाहे।

जौं सपने सिर काटइ कोई। बिन जागे दुख दूरि न होई।

घर गृहस्थी छोड़कर, संसारके व्यापारको तिलांजलि

देकर, साधु बनकर जंगलोंकी ख़ाक छानने और वस्त्र रंग लेने-से ही इनसे पिंड नहीं छूटता।

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्यं कर्म्म करोति यः।
स योगी सच संन्यासी न निरग्निर्न चाक्रियः॥

कर्म्मोंके फलोंका, उनके परिणामोंका, त्याग और अपने कर्त्तव्योंका पालन ही सच्चा संन्यास, सच्चा योग है। हमारी देह और उसकी परिस्थिति तो हमारी ही रचना ठहरी, हम साधु रहें या गृहस्थ, घर रहें वा वनमें बसें इनका साथ तो छूटनेका नहीं। वस्तुतः हमारा लक्ष्य होना चाहिए इनका ही त्याग। हम अपने कर्म्मोंके फल बटोर बटोरकर इन्हें त्यागनेके बदले आगेके लिए सामग्री इकट्ठी करते जायँ तो इनसे अधि-काधिक उलझना तो अनिवार्य्य ही है। यदि कहा जाय कि कर्मका ही त्याग करो, तो यह असंभव है—

"नतु कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।"

कर्म्म बिना कोई क्षण बीत नहीं सकता। यह कितनी सच्ची बात है। हम पिछले प्रकरणोंमें दिखा आये हैं कि देश और कालकी सत्ताके साथ कर्मकी गाँठ बँधी हुई है, कर्म नहीं तो देश और काल कहाँ, क्योंकि कर्म्म तो देश और कालका ही गुणनफल है। देश और काल नहीं तो शरीर और संसार की भी सत्ता नहीं। इन्हीं बन्धनोंसे छूटने के लिए तो अविद्या की अँधेरी कोठरीमें बन्द जीव हाथ पैर मार रहा है। जो परिस्थिति हमने स्वयं तय्यार की है, जो पट हमने स्वयं बुना है उसे केवल नोचकर फाड़ देनेसे भी वह पट ही रह जाता है, उसके तन्तु अलग नहीं होते पटके नाशका उपाय होगा उसके अन्तिम छोरसे उधेड़ना और उधेड़ते उधेड़ते

ऐसा कर देना कि तन्तु ही रह जाय और पटका नामोनिशान मिट जाय। इस संसाररूपी पटका तन्तु है कर्म्म और कर्म्मका फल है दूसरा सिरा। इसे हम ज्यों ज्यों बढ़ाते आते हैं आगेके लिए बुनते जाते हैं। कर्म्मफलोंका त्यागकर देना छोरसे उलटकर उधेड़ना है और कर्म्मोंका त्याग करना वस्त्रको फाड़कर नष्ट करनेका प्रयत्न करना है। अपने सिरपर हमने कर्म्मकी गठरी ले ली है, उसे पहुँचानेसे इनकार करना कायरता है, पर बोझा बढ़ाते जाना मूर्खता है। इसीलिए भक्त निष्काम भक्ति करता है, जो कुछ करता है अपने इष्टदेवके लिए। अपना जीवनमात्र उसे अर्पण कर देता है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्करिष्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जब सर्वस्व अर्पण करनेका भाव उसके हृदयोंमें दृढ़ खचित हो जाता है, कर्म्म और कर्म्मफल उसके नहीं रह जाते, रोगकी पीड़ा, संसारके दुःख वह अपने उपास्यदेवके लिए सहता है, अपने लिए नह , अतः वह दुःख भी सुखमें परिणत हो जाता है। विघ्न बाधाएँ उसके काममें रुकावट नहीं डालतीं, उसे घरबार छोड़ने और साधु बननेकी आवश्यकता नहीं पडती। वह घर बैठे साधुओंका साधु हो जाता है।

निर्गुण उपासना करनेवाला बलवान् और प्रौढ़ है, वह संसारकी असारता, दुःख सुखकी असत्यता जानता है। वह साधक होनेकी दशामें आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए इन विकारों काम, लोभ, मोहादिकोंको, सहायक समझता है। आत्मोन्नतिके अखाड़ेमें कुश्तीकी मश्क़के लिए इन अपने ही रचे पहलवानोंका मर्दे-मैदानकी तरह मुक़ाबला करता है, नित्यके

अभ्याससे अधिकाधिक बलवान होता जाता है; क्योंकि श्रुति उसे पुकार पुकारकर चेतावनी देती है।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य"।

उसे याद दिलातीहै, कि मनको, इन्द्रियोंको, और उनके समस्त अवयवोंको पुष्ट करो, बलवान रखो और उनका मुक़ाबला करो।

उन्हें क़ाबूमें रखो। शेरको ज़ेर करनेकी तारीफ़ तब है जब उसीके मैदानमें उसे स्वतन्त्र बल लगानेका मौका देकर उससे भिड़ो, यों तो धोखेमें ला, पिंजरेमें डालकर मरभूखे अस्थि पंजरसे तमाशेवाले बहुतेरे लड़ते देखे गये हैं। अपने विकारोंको बलवान रखते हुए भी जिसने रोका और जिधर चाहा उधर अपनी निर्दिष्ट दिशामें इन्द्रियोंरूपी घोड़ोंको चलाया तभी वह विज्ञानवान कहला सकता है। अध्यात्म विद्याका अभ्यासी गार्हस्थ्य जीवनको अपना मुख्य अभ्यासक्षेत्र गिनता है, मौकेको गनीमत समझता है उसे छोड़ भागनेके बदले, उससे काम लेता है और दुःखोंसे झंझटोंसे घबराता नहीं, शोरोगुल झगड़े बखेड़ेके बीच भी शान्त रहता है, विपत्ति और वेदनामें भी उसका हृदय विचलित नहीं होता, उसका आध्यात्मिक आनन्द नहीं जाता। इस अभ्यासके निरन्तर होते रहनेसे उसे संसारका स्वप्नवत् होना भासने लगता है। अपनी असलीयत और जगत्का अपनी ही कल्पना व रचना होना उसे प्रत्यक्ष हो जाता है। तो भी वह अपने आचरणको संयत, शान्त और इस संसारके ठीक ठीक अनुकूल रखता है। यही उसके तत्त्वदर्शी होनेका सबूत है, उसके आत्मवित् होनेका प्रमाण है। वह आत्मामें तल्लीन रहकर भी जगत्में

ऐसा विचरता है मानों जगत्को यह सच्चा ही मान रहा है। यह कच्चे विरागीके लिए जहाँ दंभ कहला सकता है, वहाँ शुद्ध तत्त्वज्ञानीके लिए हमें झूठे संसारके आचरणमें अनुरूपता कहेंगे, क्योंकि वह लोकसंग्रहके मर्म्मको खूब समझता है। राजा जनकका ऐसा ही जीवन अपने इतिहासमें मिलता है। राजा वैवस्वत यमका भी, जैसा कठोपनिषत्से प्रकट है, गार्हस्थ्य जीवनमें रहते हुए, यमपुरका शासन करते हुए भी जीवन्मुक्त होनेका उदाहरण मिलता है। दुनियादारोंके सिरताज, राजनैतिकोंके परम आचार्य्य और योगियोंके भी योगिराज स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण क्या कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म फलेस्पृहा।
न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि॥

क्यों ?

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

बड़ोंका अनुकरण सभी करते हैं इसी लिए कर्मोंसे मुक्त होकर, जीवन्मुक्त होकर, भी जनकादि इस राजविद्याके आचार्य्य संसारमें सांसारिक आचरणसे रहते और कर्म्म करते थे। संसारमें रहते हुए जीवन्मुक्त पुरुषोंके उदाहरण संसारके साहित्यमें भरे पड़े हैं। साधु विरागी होकर बिगड़ जानेके उदाहरणोंकी भी गिनती नहीं है।

सारांश यह कि दोनों रीतियोंके उपासकोंके लिए जगत्के धन्धोंमें रहकर ही उपासनाकी रीति अच्छी समझी जाती है। मनुष्य जबतक जियेगा, शरीर सम्बन्धसे वह किसी क्षण भी

बिना कर्म किये रह नहीं सकता। उसका त्राण इसीमें है कि वासना वा कर्मफलका त्याग करके सदैव कर्त्तव्यपालनमें लगा रहे। इसे अपने भावी सुख-दुःख, लाभालाभ हर्षामर्षके विचारका अधिकार ही नहीं है। जब वह भविष्यके विचारको त्यागकर वर्त्तमानमें अपने सच्चे कर्त्तव्योंका पालन करेगा, जब वह "ज्ञानसे और श्रद्धासे, पर इसमें भी विशेषतः भक्तिके सुलभ राजमार्गसे जितनी हो सके उतनी समबुद्धि करके लोकसंग्रहके निमित्त, स्वधर्मानुसार"* करता रहेगा, जब वह अपना ध्यान, अपनी धारणा सदैव अपने पूज्य और उपास्य इष्टदेवमें लीन रखेगा, जब वह युक्ताहार विहार रखेगा, क्या मजाल है दुःखका कि उसके पास फटके और क्या हिम्मत है कठिनाइयोंकी कि उसका सामना करे। जिसने अपने शरीर और परिस्थितिको साधकर अपना दास कर लिया, ज्ञानप्रभाकरने मायाके कुहरेको अपने तेजमें लीन कर लिया जिसने एक सत्ताका वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लिया उसने विश्वको जीत लिया, वह स्वयं विश्व हो गया।

---

* बि० लो० तिलकके गीतारहस्यके उपोद्घात से, पृ० ५१७।

नवाँ प्रकरण

उपासना सूक्त

पिछले प्रकरणमें जिस उपासना विषयको लेकर हमने विचार किया है, उसके सम्बन्ध में अनुभवी महापुरुषोंके वचनोंसे हिन्दू साहित्य भरा पड़ा है भक्ति भाव और ज्ञानविज्ञान सम्बन्धी वैदिक मन्त्रोंसे लेकर आजतकके प्रेमानन्दमें मग्न साधु वैरागी भजनीक गानेवालोंकी रचना—जो जहाँतक पहुँचा है उसकी गहराईके अनुसार, एक एकसे बढ़कर विलक्षण और ऊँचे उठानेवाली—साहित्यको सुशोभित कर रही है। भक्तोंने और अनुभवी महात्माओंने इनमें अपने सद्विचारके जो मोती विशेष हैं, बहुत गहरे डूबकर निकाले गये हैं। संसारके नित्यके धन्धोंमें जीवनके समस्त झंझटों में भी इनके वचनामृत कानोंमें पड़कर अपूर्व आनन्द देते हैं, इनके पद जालमें फँसे जीवको, बन्दीगृहमें जकड़े हुए क़ैदीको आज़ादीका पैग़ाम पहुँचाते हैं, मुरझाती तबियतमें ताजगी लाते हैं, मनुष्यकी कायापलट कर देते हैं। इनका आनन्द तो तभी आता है जब मनुष्य इनकी रचनाओंमें गहरे ग़ोता लगाता हैं। पर साधारण संसारी मनुष्यको अवकाश कम मिलता है। उसे शौक़ दिलानेके लिए, उसके हृदयमें उपासनाका चस्का पैदा करनेके लिए कुछ थोड़ेसे सूक्तोंका संग्रह यहाँ देते हैं। इस संग्रहमें वही सूक्त रक्खे गये हैं जिनसे लेखकको आनन्द आया है, यों तो "भिन्नरुचिर्हि लोकः" विद्वज्जन

अपनी अपनी रुचिके अनुसार स्वयं साहित्यसागरमें डूबकर अपनी पसन्दके रत्न चुन सकते हैं।

(१)

ॐ यज्जाग्रतो दूर मुदैति दैवन्तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥

जो द्युतिमान् प्रकाशात्मक जागते, पुरुषका देव दूरसे दूर चला जाता है, जो सोते हुए पुरुषका इसी तरह आता जाता है, जो अतीत विप्रकृष्ट और अनागत ग्रहण करनेवाला और जो ज्योतिकी भी ज्योति है, वह मेरा मन संकल्पवान् हो।

(२)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः।
क्षीयन्त चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

उस परमात्माके, जो पर तथा अपर दोनों हैं, साक्षात्कार होनेसे हृदयकी गाँठ टूट जाती है—सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और सब कर्मोंका क्षय हो जाता है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥

परम प्रकाश स्वरूप बुद्धिकोशमें अविद्यादि दोषोंसे रहित सर्वकालातीत ब्रह्मस्थिति है, वही शुद्ध ब्रह्म ज्योतिकी भी ज्योति है, ऐसा जो है उसकाही आत्मवेत्ता ज्ञान करते हैं।

(३) द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।

दो सुन्दर गतिवाले सर्वदा संयुक्त परस्पर सखाभाव रखनेवाले पक्षी एक वृक्षपर रहते हैं। (अर्थात् जीव ईश्वर)

उनमेंसे एक तो अनेक विचित्र सुखदुःखरूपी कर्मफलको भोगता है और दूसरा साक्षीरूपसे देखता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यनीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।

इस समान वृक्षपर पुरुष जलमें पाषाणकी नाईं डूबा हुआ 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, सुखी हूँ दुःखी हूँ, आज मेरा पुत्र मर गया, आज मेरी भार्या चली गई, आज धन नष्ट हो गया इत्यादि' दीनभावको प्राप्त हो मोहवश हुआ सोच करता है परन्तु जब वह अनेक जन्मोंके पुण्यसे किसी परम कारुणिक आचार्य्य द्वारा ज्ञान प्राप्त करके अनेक योगिजन सेवित सर्वान्तर्यामी परमात्माको अभेद रूपसे कि 'मैं वही हूँ और यह जगत् उसीकी महिमा है' ऐसा जानता है तब वीत शोक हो जाता है।

(४) सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छान्दोग्योपनिषत्। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेह प्रेत्य भवति सक्रतु कुर्वीत॥

यह सब नाम रूपात्मक जगत् ब्रह्म ही है, उसीसे उत्पन्न होता है उसमें ही लय होता है और उसीमें चेष्टा करता है, इसलिए शान्त चित्त होकर उसी ब्रह्मकी उपासना करे। यह मनुष्य अपने निश्चयकी ही मूर्त्ति है जैसा निश्चय इसको इस लोकमें होता है वैसा ही यहाँसे (परलोकमें) जाकर होता है इसलिए वह यह निश्चय करे।

सत्यव्रतं सत्य परं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यं ऋतं सत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नः॥

(भागवत १०. अ० २ श्लो० २६)

एकं समस्तं यदिहास्ति किंचत् तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतत् आत्मस्वरूपमं त्यज भेदमोहं ॥
(विष्णुपुराण अंश २. अ० १६ श्लो० २३)

सत्य संकल्प-सत्यसे प्राप्त होने योग्य, तीनों कालमें सत्य-सत्यके अधिकरण, सत्यमें स्थित सत्यके भी सत्य, समदृष्टि तथा शुभ वाणीके प्रवर्त्तक सत्य स्वरूप आपकी शरणको मैं प्राप्त होता हूँ।

जो कुछ इस प्रपञ्चमें है वह सब अच्युत विष्णु स्वरूप ही है। उससे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है वही मैं हूँ वही तू है—वही यह सब है वह आत्यस्वरूप है—भेद दृष्टिको त्यागो।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदार शतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यांति यास्यंति चापरे ॥
हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

ऊर्ध्वाहुर्विरौम्येप नच कश्चिच्छृणोतिमाम्।
धर्मादर्थश्चकामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

नजातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजे ज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मोनित्यः सुख दुःखेत्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्या प्यनित्यः ॥

सहस्रों मातापिता, सैकड़ों स्त्रीपुत्र संसारमें हमने देखे और भी आते जाते रहेंगे। सहस्रों स्थान हर्षके, सैकड़ों स्थान भयके प्रतिदिन मूढ़ पुरुषको प्राप्त होते हैं न कि पण्डित को।

हाथ ऊपर उठाकर ज़ोर ज़ोरसे कह रहा हूँ परन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता। सुनो 'धर्मसे अर्थ और काम दोनों प्राप्त होते हैं फिर धर्मका सेवन क्यों न किया जाय। न काम से, न भयसे, न लोभसे बल्कि प्राणोंपर संकट पड़नेपर भी धर्मको मत छोडो। धर्म नित्य है। सुखदुःख दोनों ही अनित्य हैं। जीव नित्य है परन्तु जीवके ससारमें आनेके कारण फिर भी अनित्य है।

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्वम्।
सच्चित्सुखं परमहंस गतिं तुरीयम्॥
यत्स्वप्न जागर सुषुप्तमवैति नित्यं।
तद् ब्रह्म निष्कलमहं नच भूतसंघः॥
प्रातर्भजामि मनसो वचसामगम्यं
वाचो विभाति निखिला यदनुग्रहेण।

यन्नेति नेति वचनैर्निगमाववोध
स्तं देवदेव मजमच्युत माहुरग्र्यम्॥
प्रातर्नमामि तमसः परमार्कवर्णम्
पूर्ण सनातनपद पुरुषोत्तमाख्यम्।
यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्तौ
रज्ज्वां भुजगम इव प्रतिभाति त वै॥

प्रातः समय मैं उस आत्मतत्वका जो सच्चित् सुख स्वरूप-से हृदयमें स्फुरित है, जो परमहंसोंकी गति है, जो तुर्य्यपद (जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिसे परे) है स्मरण करता हूँ जो जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिका साक्षी तथा नित्य है वह निष्कल ब्रह्म मैं हूँ. मैं यह पाञ्चभौतिक संघात (शरीर) नहीं हूँ।

मैं प्रात समय उस देवोंके देवका जो मन और वाणीका विषय नहीं—जिसके अनुग्रहसे सब वाणी (वाणी उपलक्षित इन्द्रियाँ) प्रकाशित होती हैं जिसको 'नेति नेति'से श्रुति कहती है, जिसको वेदवेत्ता अच्युत और सबसे श्रेष्ठ कहते हैं, भजन करता हूँ।

मैं प्रात 'समय उस पुरुषोत्तमको जो अज्ञानरूपी अन्धकारसे परे, परम प्रकाश स्वरुप पूर्ण सनातन पद है' जिस अशेष मूर्त्तिमें यह सब जगत् रज्जुमें सर्पकी नाईं भान होता है नमस्कार करता हूँ।

यं वै विश्वस्य कर्त्तारम् जगतस्तस्थुषां पतिम्।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम्॥
महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यति तेजसम्।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः॥

प्रभु सब जगत्के कर्त्ता स्थावर जंगमके स्वामी हैं, जिनको जगत्का अध्यक्ष-अक्षर परम पद कहते हैं, उनकी शरणको मैं प्राप्त हूँ।

अत्यन्त अज्ञानरूपी अन्धकारसे परे रहनेवाले अति तेजस्वी पुरुषको जानकर मृत्युसे छूट जाता है, उस ज्ञेयरूप परमात्माको नमस्कार है।

पादांगं संधि पर्वाणं स्वरव्यंजन भूषणम्।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः॥
यस्तनोति सतांसेतु मृतेनामृतयोनिना।
धर्मार्थव्यवहारांगैस्तस्मै सत्यात्मने नमः॥

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

यतः सर्वे प्रसूयन्ते ह्यनंगात्मांगदेहिनः ।
उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥

यं च व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः ।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥

पदसमूह वाक्य जिसके अंग, सन्धि जिसके पर्व हैं—स्वर व्यञ्जन जिसके भूषण हैं, जिसको दिव्य अक्षर कहते हैं, तिस वागात्मक परमात्माको नमस्कार है ।

जो सज्जनोंके लिए अमृतसे उत्पन्न हुए धर्म अर्थ तथा व्यवहाररूपी अंगोंसे सत्यरूपी सेतु हैं, उन सत्यात्मक परमात्माको नमस्कार है ।

जिसको पृथक् पृथक् धर्माचरण तथा पृथक् पृथक् धर्मफलकी इच्छा करनेवाले पृथक् पृथक् धर्मोंद्वारा अर्चना करते हैं उस धर्मस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ।

जिस काममय परमात्मासे सब उत्पन्न होते हैं, जिनसे सम्पूर्ण भूतोंको उन्माद होता है, उस कामस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ।

व्यक्तमें स्थित जिस अव्यक्त परमात्माको ऋषिजन खोजते हैं, जो प्रति क्षेत्रमें विराजमान है, उस क्षेत्रस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ।

यं त्रिधात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युंजानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥

अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः ।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥

योसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः ।
संभक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः ॥

संभक्ष्य सर्व भूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत् ।
बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः ॥

सहस्रशिरसेचैव पुरुषायामितात्मने ।
चतुःसमुद्रपर्याय योगनिद्रात्मने नमः ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वांग सन्धिषु ।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥

जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें अपनी आत्मामें रहनेवाले षोड़श गुणोंसे युक्त जिसे सांख्याचार्य्य सत्रहवाँ कहते हैं उस सांख्यस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

निद्रा श्वास तथा इन्द्रियोंको जीतनेवाले योगिजन जिस ज्योतिको योगद्वारा देखते हैं उस योगस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

पुण्य पापसे रहित पुनर्जन्मके भयसे अतीत जिसको शान्त स्वरूप संन्यासी प्राप्त होते हैं, उस मोक्षस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

जो सहस्र युगोंके अन्तमें प्रदीप्त अग्नि होकर सम्पूर्ण भूतों-को भक्षण करता है उस घोरस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

सब भूतोंको लय और सब जगत्को केवल जलरूप करके जो बालक स्वरूपसे अकेला सोता है उस मायारूपी परमात्माको नमस्कार है।

जो सहस्रशिरसंयुक्त व्यापकरूप चतुःसमुद्ररूपी शय्यापर सोता है उस योगनिद्रात्मक परमात्माको नमस्कार है।

जिसके केशोंमें मेघ, सब अंगोंकी सन्धियोंमें नदियाँ तथा कुक्षिमें चारों समुद्र हैं उस जलरूप परमात्माको नमस्कार है।

यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्ग प्रलय विक्रिया. ।
यस्मिश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥

यो निषण्णो भवद्रात्रौ दिवा भवति विष्ठित ।
इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्टात्मने नमः ॥

अकुण्ठं सर्व कार्येषु धर्मकार्यार्थमुद्यतम ।
वैकुंठस्य च तद्रूप तस्मै कार्यात्मने नमः ॥

विभज्य पंचधात्मानं वायुर्भूत्वा शरीरग ।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥

युगेष्वावर्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनै ।
सर्गप्रलययो कर्त्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥

ब्रह्मवक्त्रं भुजौक्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौयस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥

यस्याग्निरास्यंद्यौ मूर्धा ख नाभिश्चरणौक्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥

जिससे प्रपञ्चकी उत्पत्ति प्रलयादिक होते हैं, और जिसमें लय होते हैं उस हेतुरूप परमात्माको नमस्कार है।

जो रात्रि तथा दिवसमें अधिष्ठातारूपसे इष्ट तथा अनिष्ट-का द्रष्टारूपसे स्थित है, उस द्रष्टारूप परमात्माको नमस्कार है।

जिस वैकुण्ठ भगवान्‌का दिव्य मङ्गलविग्रह सब कार्योंमें अकुण्ठित रहता है और धर्मकार्य्यके करनेमें उद्यत है उस कार्यरूप परमात्माको नमस्कार है।

जो अपने स्वरूपको पाँच प्रकारसे विभाग करके शरीरमें पंचप्राणरूपसे प्रविष्ट होकर सब प्राणिमात्रको चलाता है, उस वायुरूप परमात्माको नमस्कार है।

जो युगोंमें मास ऋतु अयन और वर्षरूप योगोंसे आवर्तन करता हुआ सर्ग और प्रलयका कर्त्ता है, उस कालरूप परमात्माको नमस्कार है।

जिसके मुखरूप ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, जंघा वैश्य, चरण शूद्र हैं उस वर्णात्मक परमात्माको नमस्कार है।

जिसका अग्नि मुख, स्वर्ग सिर, आकाश नाभि, चरण भूमि, सूर्य नेत्र, दिशा श्रोत्र हैं उस लोकात्मक परमात्माको नमस्कार है।

परः कालात्परो यज्ञात्परात्परतरश्च यः।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः॥

विषये वर्तमानानां यं तं वैशेषिकैर्गुणै।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोप्तात्मने नमः॥

अन्नपानेंधनमयो रस-प्राण-विवर्धनः।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः॥

प्राणानां धारणार्थाय योऽन्नं भुंक्ते चतुर्विधम्।
अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः॥

यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः ॥

जो कालसे परे यज्ञसे परे, तथा परात्पर है, जो आप अनादि होकर भी इस सम्पूर्ण विश्वका आदिकारण है उस विश्वात्मक परमात्माको नमस्कार है।

विषयोंमें रहनेवालोंमें जिसे विषयोंके गुणसे विषयोंका गोप्ता कहते हैं उस गोप्तस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

जो अन्नपान इंधनमय हुआ, रस प्राणकी वृद्धि करनेवाला है तथा जो भूतोंको धारण करता है उस प्राणात्मक परमात्माको नमस्कार है।

जो प्राणोंको धारण करनेके लिए चार प्रकारका अन्न (भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य) ग्रहण करता है और अन्तः प्रविष्ट होकर जठराग्निरूपसे अन्नका पाचन करता है उस पाकरूप परमात्माको नमस्कार है।

जो सृष्टिकी रक्षाके लिए स्नेहरूपी फाँसीके बन्धनसे प्राणिमात्रको मोहित करता है, उस मोहरूप परमात्माको नमस्कार है।

आत्मज्ञान मिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पंचस्ववस्थिताम्।
यंज्ञानेनाभि गच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नम ॥

अप्रमेयशरीराय सर्वतो बुद्धिचक्षुषे।
अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥

सर्व भूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च।
अक्रोध-द्रोह-मोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः ॥

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

जो ज्ञान पाँच विषयोंमें स्थित है उसको आत्मज्ञान जान कर उसी ज्ञानसे फिर जिसको प्राप्त होते हैं, उस ज्ञानात्मक परमात्माको नमस्कार है ।

जिसके शरीरका परिमाण नहीं है, जिसके बुद्धिरूप नेत्र सर्वत्र हैं, जिसमें अनन्त विषय हैं उस दिव्यात्मक परमात्माको नमस्कार है ।

सर्व प्राणिमात्रके आत्मा, अहङ्कारको नाश करनवाले क्रोध, मोह द्रोहरहित, शान्तआत्मा परमात्माको नमस्कार है ।

जिसमें यह सब है, जिससे यह सब है, जो यह सब है, जो सर्व ओरसे है, और जो सर्व तथा नित्य है उस सर्वात्मक परमात्माको नमस्कार है ।

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

गी० अ० ६ श्लो० २३

जो और देवताओंके भक्त होकर उनकी श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं वह भी मेरी ही उपासना करते हैं परन्तु विधिपूर्वक नहीं ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम् ॥

गी० अ० ७ श्लो० २४

"मुझ अव्यक्तको मूढ़ पुरुष मेरे अति उत्कृष्ट परम भावको न जानकर व्यक्तिगत मानते हैं। अपनी योगमायासे आवृत मैं सबको प्रकट नहीं हूँ यह मूढ़ लोग मुझ अव्यय अविनाशी-को नहीं जानते।"—तथा च—

अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशये स्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च॥

अध्याय ६ श्लोक २०

"हे अर्जुन मैं आत्मरूपसे सबके हृदयमें स्थित हूँ, मैं ही भूतोंका आदि मध्य तथा अन्त हूँ।

यस्मात् सृष्ट्वानु गृह्णाति ग्रसते च पुनः प्रजाः।
गुणात्मकत्वात्त्रैलोक्ये तस्मादेकः स उच्यते॥

अग्रे हिरण्यगर्भ. स प्रादुर्भूतः सनातनः।
आदित्वादादिदेवोऽसाव जातत्वादजः स्मृतः॥

देवेषु च महादेवो महादेव इति स्मृतः।
पाति यस्मात् प्रजाः सर्व्वाः प्रजापतिरितिस्मृतः।
बृहत्त्वाच्च स्मृतो ब्रह्मा परत्वात् परमेश्वरः॥

वशित्वादप्यवश्यत्वादीश्वर. परिभाषितः।
ऋषिः सर्वत्रगत्वेन हरि सर्व्वहरो यत.॥

अनुत्पादात्चानुपूर्व्वात् स्वयम्भुरिति संस्मृतः।
नराणामयनं यस्मात् तस्मान्नारायणः स्मृतः॥

हरः संसार हरणाद्विभुत्वाद् विष्णुरुच्यते।
भगवान् सर्व्वं विज्ञानादवनादोमिति स्मृतः॥

सर्व्वज्ञः सर्व विज्ञानाच्छन्दः सर्वमयो यतः ।
शिवः स्यान्निर्म्मलो यस्माद्विभुः सर्व्वगतो यतः ॥

तारणात् सर्व्वदुःखानां तारकः परिगीयते ।
बहुनात्र किमुक्तेन सर्व्वं विष्णुमयं जगत् ॥

जिस कारण प्रजाको वह उत्पन्न करके पालन और पुनः संहार करता है, इस कारण गुणात्मक होनेसे वह देव त्रिलोकीमें एक ही कहा जाता है। प्रथम वह सनातन देव हिरण्यगर्भ रूपसे प्रकट हुआ।

आदि होनेसे आदिदेव, अजन्मा होनेसे अज, देवोंमें बड़ा होनेसे महादेव—सर्व प्रजाकी रक्षा करनेसे प्रजापति, बृहत् (विस्तृत) होनेसे ब्रह्मा, सबसे पर (उत्कृष्ट) होनेसे परमेश्वर, सबका नियन्ता तथा आप किसीके वशमें न होनेसे ईश्वर, सर्वगत होनेसे ऋषि, सबको हरनेसे हरि, किसीसे न उत्पन्न तथा अनुपूर्व होनेसे स्वयंभु, 'मनुष्योंका आश्रयस्थान होनेसे नारायण, सब संसारका संहार करनेसे हर, व्यापक होनेसे विष्णु, सर्वज्ञ होनेसे भगवान्, सबकी रक्षा करनेसे ओम, सबको जाननेसे सर्वज्ञ, सर्वमय होनेसे छन्द, निर्मल होनेसे शिव, सर्वगत होनेसे विभु और सब दुःखोंको दूर कर तारनेसे वह देव तारक कहा जाता है—बहुत कथनसे क्या सब जगत् विष्णुमय है।

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो वाचो विकारं कवयो वदन्ति ।
यस्मिन् जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं येतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

द्वैतसे परे, जगदाकारसे उद्यत—आकाशादिसे भी महान् वह ब्रह्म है, विद्वान् कहते हैं कि वह उस वाणीसे जो केवल

अस्तिमात्र कहती है परे है—जिसमें यह जगत् स्थित है जो उसे जानते हैं वह अमर हो जाते हैं।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
सर्वतः पाणि पादं तत् सर्वतोक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्व भृच्चैव निर्गुणं गुण भोक्तृ च॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव स्थितं।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥

(गीता अ० १३ श्लोक १२-१७)

जो ज्ञेय आत्मस्वरूप है जिसको जानकर मोक्षको प्राप्त होता है तिसे कहूँगा—वह प्रत्यगात्मा अनादि—परब्रह्म न सत् (कार्यावस्थ) न असत् (कारणावस्थ) कहा जाता है।

वह आत्मा सब ओर हस्त, चरण, नेत्र, शिर, मुख और कर्णोंसे युक्त जो कुछ लोकमें है उसे व्याप्त करके स्थित है।

वह इन्द्रिय वृत्तिद्वारा विषयाकार प्रतीत होता है, तथापि सब इन्द्रियोंसे परे है सब संगोंसे वर्जित होकर भी सबका आधारभूत है—गुणरहित होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है।

सब प्राणियोंके अन्तर बाहिर—चर तथा अचर—सूक्ष्म होनेसे जाननेको अशक्य अज्ञानियोंको दूर तथा ज्ञानियोंको वह आत्मा समीप है।

अविभक्त होनेपर भी वह प्राणियोंमें विभक्तकी नाईं स्थित है। सबका पालनकर्त्ता सबको ग्रसने तथा उत्पन्न करनेवाला वह परमात्मा है।

सूर्य्यादि प्रकाश स्वरूप पदार्थोंका भी प्रकाशक वह अन्धकारसे परे कहा जाता है, वह आत्मा ज्ञान, ज्ञेय, तथा ज्ञानसे प्राप्य सबके हृदयमें स्थित है।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते।
यस्य चात्मादिका संज्ञा कल्पिता न स्वभावजाः॥

यः पुमान्सांख्यदृष्टीनां ब्रह्मवेदान्तवादिनां।
विज्ञानमात्र विज्ञानविदामेकान्त निर्मलम्॥

यः शून्य वादिनां शून्यं भासको योर्कतेजसाम्।
वक्ता मंता श्रतं भोक्ता द्रष्टा कर्त्ता सदैव सः॥

सन्नप्यसद्यो जगति यो देहस्थोपि दूरगः।
चित्प्रकाशोद्ययं यस्मादालोक इव भास्वतः॥

यस्माद्विष्ण्वादयो देवा सूर्य्यादिव मरीचयः।
यस्माज्जगंत्यनंतानि बुद्बुदा जलधेरिव॥
यं यान्ति दृश्यवृन्दानि पयांसीव महार्णवम्।
य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत्॥

य आकाशे शरीरे च दृषत्स्वप्सु लतासु च।
पांसुष्वद्रिषु वातेषु पातालेषु च संस्थितः॥

य: प्लावयति संरब्धं पुर्यष्टकमितस्ततः ।
येन मूकी कृता मूढाः शिला ध्यानमिव स्थिताः ॥

व्योम येन कृतं शून्यं शैला येन घनीकृताः ।
आपो द्रुताः कृता येन दीपोयस्यवशो रवि. ॥

प्रसरंति यतः चित्रा संसारासार वृष्टय. ।
अक्षयामृतसम्पूर्णादंभोदादिव वृष्टय. ॥

आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरंत्यतितते यस्मिन् मराविव मरीचयः ॥

नाश रूपो विनाशात्मा यस्थित' सर्व जंतुषु ।
गुप्तो योप्यतिरिक्तोपि सर्व भावेषु संस्थितः ॥

कुर्वन्नपीह जगतां महतामनंतवृन्द न किंचन करोति न काश्चनापि । स्वात्मन्यनस्तमयसंविदि निर्विकारो व्यक्तोदय 'स्थितिमतिस्थित एक एव ॥

(योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ५ श्लोक ५-१६-तथा २४)

जिस परमात्मातक वाणी प्राप्त नहीं होती, जो केवल मुक्त पुरुषोंको प्राप्त होता है, जिसके आत्मादि नाम कल्पित हैं, न कि स्वाभाविक।

जिसे सांख्यशास्त्रवाले पुरुष, वेदान्ती ब्रह्म, विज्ञानवादी निर्मल क्षणिक विज्ञान, और शून्यवादी शून्य कहते हैं, जो सूर्य्यादि तेजोंका भी प्रकाशक है जो वक्ता, मंता सत्यरूप, भोक्ता द्रष्टा और सबका कर्त्ता है।

जो सत्‌रूप होने पर भी अविद्यासे आच्छादित पामरोंकी दृष्टिसे असत् है जो देहमें स्थित रहनेपर भी दूरस्थ है जिस आत्माका सूर्य्यके आलोकके सदृश प्रकाश है।

जिस परमात्मासे विष्णु आदि देव ऐसे उत्पन्न हुए हैं जैसे सूर्य्यसे किरण, जिससे अनन्त जगत् ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे समुद्रसे बुद्बुद,

जिसमें सम्पूर्ण दृश्योंके समूह ऐसे लीन होते हैं जैसे समुद्रमें सब प्रकारके जल, जो दीपकके समान अपना तथा अन्य पदार्थोंका भी प्रकाशक है,

जो आकाशमें, शरीरोंमें, पाषाणोंमें, जलोंमें, लताओंमें, धूलियोंमें, पर्वतोंमें, वायुमें, पातालादि लोकोंमें सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है,

जो अपने व्यापारोंमें उद्युक्त कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, भूत सूक्ष्म पंचप्राण अविद्या कामकर्म और पुर्य्यष्टकको अपनी चेतनासे कार्य्योंमें प्रवृत्त करता है, अर्थात् जो चेतनोंका भी चेतन है, जिससे मूक किये हुए शिलादि मानों ध्यानमें स्थित हैं,

जिसने आकाशको शून्य, पर्वतोंको सघन और जलोंको द्रवीभूत किया है, अन्य पदार्थोंका प्रकाशक सूर्य्य भी जिसके दीपकके समान है,

जिस अक्षय और अमृतरूपसे असार संसारोंकी वृष्टियाँ ऐसे होती हैं जैसे अक्षय अमृतपूर्ण मेघसे जलकी,

जिससे आविर्भाव तिरोभाव त्रिभुवनरूपी तरंग ऐसे स्फुरित होते हैं जैसे मरुमें मृगतृष्णाका जल,

जो सब पदार्थोंमें प्रपञ्चरूपसे नाशमान और अपने रूपसे अविनाशी है, अति सूक्ष्म होनेसे सबके अन्दर छिपा हुआ और महान् होनेसे सबसे पृथक् है,

वह परमात्मा अनेक ब्रह्माण्ड समूहोंको तथा उनकी लीलाओंको करता हुआ भी वास्तवमें कुछ नहीं करता

क्योंकि निर्विकार अनस्तमय सजातीय विजातीय स्वगतभेद शून्य स्वात्म-संवित्‌रूपमें वह एक ही स्थित है।

सिद्धगीता

सिद्धा ऊचुः—दृष्टृदृश्यसमायोगात्प्रत्ययानन्दनिश्चयः।
यस्तं स्वमात्म तत्वार्थं निःस्पदं समुपास्महे ॥

अन्ये ऊचुः—द्रष्टृ दर्शन दृश्यानि त्यक्त्वावासनया सह।
दर्शनप्रथमाभासमात्मान समुपास्महे ॥

अन्ये ऊचु —द्वयोर्मध्यगतंनित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः।
प्रकाशनं प्रकाश्यानामात्मानं समुपास्महे ॥

अन्ये अचुः—यस्मिन् सर्वं यस्य सर्वं यतः सर्वं यस्मा इदम्।
येन सर्वं यद्धि सर्वं तत्सत्यं समुपास्महे ॥

अन्ये ऊचुः—अशिरस्क हकारान्तमशेषाकारसंस्थितम्।
अजस्रमुच्चरन्तं स्व तमात्मानमुपास्महे ॥

सिद्ध बोले—द्रष्टा और दृश्य (प्रमाता तथा विषय) के संयोगसे जो आनन्दका निश्चय होता है उसी निरतिशयानन्दसे आविर्भूत आत्माकी हम निर्विकल्प समाधिद्वारा बाह्य तथा अन्तःकरणकी सब चेष्टाओंको रोककर निरन्तर उपासना करते हैं।

और सिद्ध बोले—द्रष्टा दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी तथा वासनाको त्यागकर जो वृत्तिके पूर्व ही उसकी प्रकाशिका भासती है उस आत्माकी हम उपासना करते हैं।

और सिद्ध बोले—अस्ति नास्ति दोनों पक्षोंके बीचमें जो

साक्षीरूपसे प्रकाश्य पदार्थोंका भी प्रकाशक है, उस आत्मा-
की हम उपासना करते हैं।

और सिद्ध बोले—जिस परमात्ममें सब कुछ है, जिसका
सब कुछ है, जिससे सब कुछ है, जिसके लिये यह सब कुछ
है, जो सबका कर्त्ता तथा कारण है और जो सब है, उस
सत्यरूप आत्माकी हम उपासना करते हैं।

और सिद्ध बोले—अकारसे लेकर हकार पर्य्यन्त जो
सर्वाकार रूपसे सब वाणीको व्याप्त करके स्थित है, जो क्रिय-
माण व्यवहारोंमें अहङ्काररूपी उपाधिको दूर करनेके पश्चात्
अहंपद लक्ष्य ब्रह्म है उसकी हम उपासना करते हैं।

श्रीशंकराचार्य्य रचित विज्ञाननौका

तपो यज्ञ दानादिभिः शुद्ध बुद्धिर्विरक्तो नृपादौ पदे तुच्छ
बुद्ध्या। परित्यज्य सर्वं यदाप्नोति तत्त्वं परंब्रह्म नित्यं तदे-
वाहमस्मि॥

दयालुं गुरुं ब्रह्मनिष्ठं प्रशांत समाराध्य मत्या विचार्य
स्वरूपम्। यदाप्नोति तत्त्व निदिध्यास्य विद्वान्परं ब्रह्म नित्यं
तदेवाहमस्मि॥

यदानन्द रूपं प्रकाशस्वरूपं निरस्तप्रपंचपरिच्छेद शून्यम्।
अहं ब्रह्मवृत्त्यैकगम्यं तुरीय परब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि॥

यद् ज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं विनष्टं च सद्यो यदात्म-
प्रबोधे। मनो वागतीतं विशुद्धं विमुक्तं परंब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि॥

निषेधे कृते नेति नेतीति वाक्यैः समाधिस्थितानां यदा-
भाति पूर्णम्। अवस्थात्रयातीतमेकं तुरीयं परं ब्रह्म नित्यं
तदेवाहमस्मि॥

यदानन्द लेशैः समानन्दि विश्वं, यदाभाति सत्त्वे तदाभाति सर्व्वम्। यदा लोचने रूपमन्यत्समस्तं परब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि॥

अनन्तं विभुं सर्व योनिं निरीहं शिवं संग हीनं यदोङ्कार गम्यम्। निराकारमत्युज्ज्वलं मृत्युहीनं परंब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि॥

यदानंद सिंधौ निमग्नः पुमान्स्यादविद्या विलासः समस्त-प्रपञ्चः। यदा न स्फुरत्यद्भुतं यन्निमित्त परंब्रह्म रूपं तदेवाहमस्मि॥

स्वरूपानुसंधानरूपां स्तुतिं यः पठेदादराद्भक्तिभावो मनुष्यः। शृणोतीह वा नित्यमुद्युक्त चित्तो भवेद्विष्णुरत्रैव वेद-प्रमाणात्॥

तप, यज्ञ, दानादि द्वारा शुद्ध बुद्धि, राज्यादि पदको तुच्छ जानकर उससे विरक्त, सर्वत्यागी पुरुष जिस तत्त्वको प्राप्त होता है, वह नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ।

दयालु ब्रह्मनिष्ठ शान्तचित्त गुरुकी सेवा तथा अपने बुद्धि-बलसे निदिध्यासनद्वारा जिस पदको विद्वान् प्राप्त होता है, वह नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ।

जो आनन्दरूप प्रकाशस्वरूप प्रपञ्चातीत, परिच्छेदरहित, एक अहंब्रह्मवृत्तिका विषय तुरीय पद है, वह नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ।

जिसके अज्ञानसे इस समस्त जगत्का भान होता है जिसके स्वरूपज्ञान होनेपर जगत्का बाध होकर एक सत् शेष रहता है, जो मन और वाणीसे परे परम शुद्ध और मुक्त है, वह नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ।

जो नेति नेति वाक्योंसे सबके निषेध होनेपर समाधिस्थ पुरुषोंको पूर्णरूपसे भान होता है, जो अवस्थात्रयसे (जागृति,

स्वप्न, सुषुप्ति)से परे एक तुरीय पद है, वह नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ।

जिसके आनन्दकणसे सब जगत् आनन्दित है जिसके प्रकाशसे सब जगत् प्रकाशित है, जिसकी चक्षु सब जगत्‌की चक्षु है, वह नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ।

जो अनन्त सर्वव्यापी चेष्टारहित शिवरूप, संगसे वर्जित, ॐकार गम्य, निराकार अति उज्ज्वल मृत्युरहित पद है, वह नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ।

जिस आनन्द समुद्रमें मग्न हुए पुरुषको इस अविद्या-विलासरूपी समस्त प्रपंचका भान नहीं होता—जो इसका अद्भुत निमित्त है वह नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ।

जो पुरुष इस स्वरूपानुसन्धानरूपी स्तुतिका आदरसहित भक्तिसे पाठ करे अथवा नित्य उद्युक्त चित्त होकर सुने, वह यहाँ ही विष्णुस्वरूप हो जाता है, इसमें वेद प्रमाण है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

मांहि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यांति परां गतिम्॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(भगवद्गीता अ० ९ श्लोक ३०–२४)

अत्यन्त दुष्कृत करनेवाला पुरुष भी यदि अनन्य चित्त हो मेरा भजन करे तो उसे अच्छा ही मानना चाहिए क्योंकि उसका निश्चय शुद्ध है।

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो परम उपशमको प्राप्त होता है, हे अर्जुन ठीक जान कि मेरा भक्त कभी अधोगतिको प्राप्त नहीं होता।

हे अर्जुन जो जन्मसे पापी है तथा स्त्री, वैश्य, शूद्र हैं। वे भी मेरा आश्रय लेकर परम गतिको प्राप्त होते हैं।

फिर उन पुरुषोंका जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि हैं कहना ही क्या। इस अनित्य और दुःखमय संसारको प्राप्त होकर मेरा भजन कर।

मुझमें ही मन लगा, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, इस प्रकार मनको मत्परायण करनेसे मुझको ही प्राप्त होगा।

भाषा

(१)

राग भैरवी, ताल चलन्न

नज़र आया है हरसू मह जमाल अपना मुबारक हो।
"वह मैं हूँ" इस खुशीमें दिलका भर आना मुबारक हो॥
यह उरयानी रुखे खुरशीदकी खुद पर्दा छायल थी।
हुआ अब फाश पर्दा सिन्न उड़ जाना मुबारक हो॥
यह जिस्मो इसका काँटा जो बेढबसा खटकता था।
ख़लिश सब मिट गई, काँटा निकल जाना मुबारक हो॥

तमलखुरसे हुए थे क़ैद साढ़े तीन हाथोंमें ।
पर अब फ़िकरो तख़य्युलसे भी बढ़ जाना मुबारक हो ॥
अजब तसख़ीर आलमगीर लाई सलतनत आली ।
मह ओ माहीका फ़रमाँको बजा लाना मुबारक हो ॥
न अंदेशा हर्जका मुतलक़ न अंदेशा ख़लल बाक़ी ।
फरहरेका बुलन्दीपर यह लहराना मुबारक हो ॥
तअ़ल्लुकसे बरी होना हरूफ़े रामकी मानिन्द ।
हर इक पहलूसे नुक़ता दाग़ मिट जाना मुबारक हो ॥

(२)

राग भैरव, ताल शूल

वाह वा ऐ तप व रंजिश ! वाह वा ।
हब्बज़ा ऐ दर्दो पेचिश ! वाह वा ॥
ऐ बलाये नागहानी ! वाह वा ।
वेलकम, ऐ मर्गे जवानी ! वाह वा ॥
यह भँवर यह क़हर बर्पा ? वाह वा ।
बहरे मिहरे राममें क्या वाह वा ॥
खाँड़का कुत्ता गधा चूहा बिला ।
मुँहमें डालो ज़ायक़ा है खाँड़का ॥
पगड़ी पाजामा दुपट्टा अंगरखा ।
ग़ौरसे देखा तो सब कुछ सूत था ॥
दामनी तोड़ी व माला सब गढ़ा ।
पर निगाहे हक़में है सारा तिला ॥
मोतियाबिन्द दिलकी आँखोंसे हटा ।
मर्ज़ो सेहत चैन राहत राम था ॥

(३)

त्यागका फल

अपने मज़ेकी ख़ातिर गुल छोड़ ही दिये जब।
रूये ज़मींके गुलशन मेरे ही बन गये सब॥
जितने ज़ुबॉके रस थे कुल तर्क कर दिये जब।
बस जायक़े जहॉके मेरे ही बन गये सब॥
ख़ुदके लिये जो मुझसे दीदोंकी दीद छूटी।
ख़ुद हुस्नके तमाशे मेरे ही बन गये सब॥
अपने लिये जो छोडी ख़ाहिश हवाख़ुरीकी।
बादे सबाके झोंके मेरे ही बन गये सब॥
निजकी ग़रज़से छोड़ा सुननेकी आरज़ूको।
अब राग और बाजे मेरे ही बन गये सब॥
जब बेहतरीके अपनी फिकर ओ ख़याल छूटे।
फिकर ओ ख़याले रंगीं मेरे ही बन गये सब॥
आहा! अजब तमाशा, मेरा नही है कुछ भी।
दावा नहीं ज़रा भी इस जिस्मो इसपर ही॥
यह दस्त ओ पा हैं सबके, ऑखे यह हैं तो सबकी।
दुनियॉके जिस्म लेकिन मेरे ही बन गये सब॥

(४)

राग भैरवी ताल चलन्त

यह उरसे मिहर आ चमका अहाहा हा अहाहा हा।
उधर मह बामसे लपका, अहाहा हा अहाहा हा॥
हवा अठखेलियॉ करती है मेरे इक इशारेसे।
है कोड़ा मौतपर मेरा, अहाहा हा अहाहा हा॥
इकाई ज़ातमें मेरी असंख्यों रंग हैं पैदा।
मज़े करता हूँ मैं क्या क्या अहाहा हा अहाहा हा॥

कहूँ क्या हाल इस दिलका कि शादी मौज मारे है।
है इक उमड़ा हुआ दरिया अहाहा हा अहाहा हा॥
यह जिस्मे राम, ऐ बदगो! तसव्वर महज़ है तेरा।
हमारा बिगड़ता है क्या, अहाहा हा अहाहा हा॥

(५)

राग कानड़ा ताल मुग़लई

खिला समझ कर फूल बुलबुल चली।
चली थी न दम भर कि ठोकर लगी॥
जिसे फूल समझी थी साया ही था।
वह झपटी तो तड़ शीशा सिरपर लगा॥
जो दायेंको झाँका वही गुल खिला।
जो बायेंको दौड़ी वही हाल था॥
मुक़ाबिल उड़ी मुँहकी खाई वहाँ।
जो नीचे गिरी चोट आई वहाँ॥
क़फ़सके था हर सिम्त शीशा लगा।
खिला फूल मर्कज़में था वाह वा॥
उठा सिरको जिस आन पीछे मुड़ी।
तो खंदा था गुल आँख उससे लड़ी॥
चली लेक दिलमें कि धोखा न हो।
थी पहले जहाँ रुख किया उधरको॥
मिला गुल, हुई मस्तो दिलशाद थी।
क़फ़स था न शीशे, वह आज़ाद थी॥
यही हाल इन्सान तेरा हुआ।
क़फ़समें है दुनियाके घेरा हुआ॥
भटकता है जिसकेलिये दरबदर।
वह आराम है क़लबमें जल्वः गर॥

(६)

राग पर्ज ताल केरवा

ख़ुदाई कहता है जिसको आलम
सो यह भी है इक ख़याल मेरा।
बदलना सूरत हर एक ढबसे
हर एक दममें है हाल मेरा॥
कहीं हूँ ज़ाहिर कहीं हूँ मज़हर
कहीं हूँ दीद औ कहीं हूँ हैरत,
नज़र है मेरी नर्साव मुझको
हुआ है मिलना मुहाल मेरा।
तिलस्मे इसरारे गंजे मख़फ़ी
कहूँ न सीनेको अपने क्योंकर,
अयाँ हुआ हाले हर दो आलम
हुआ जो ज़ाहिर कमाल मेरा।
अलस्तु कालू बलाकी रमज़ें
न पूछ मुझसे वतन तू हरगिज़,
हूँ आप मशग़ूल आप शाग़ल
जवाब ख़ुद है सवाल मेरा।

(७)

राग देश ताल तीन

गुम हुआ जो इश्क़में फिर उसको नंगो नाम क्या।
दैरो काबेसे गरज़ क्या कुफ़्र क्या इसलाम क्या॥
शेख़ जी आते हैं मैख़ानेसे मुँहको फेरफेर।
देखिये मसजिदमें जाकर पायेंगे इनआम क्या॥
मौलवी साहबसे पूछे तो कोई है जिस्म क्या।
रूह क्या है, दम है क्या, आग़ाज़ क्या, अंजाम क्या॥

इम को लेकर झुमो झुको बेखबर सा बैठ रह।
कूचए दिलदारमें याइज़से तुमको काम क्या॥
यार मेरा मुझमें है, मैं यारमें हूँ बिलज़रूर।
वस्लको याँ दख़ल क्या और हिज्र नाफ़र्जाम क्या॥
तुझमें मैं और मुझमें तू आँखें मिलाकर देख ले।
और गर देखे न तू तो मुझपै है इल्ज़ाम क्या।
पुख़्ता मग़ज़ोंके लिए है रहनुमा मेरा सख़ुन।
हाफ़िज़ा हासिल करेंगे इससे मर्दें ख़ाम क्या॥

(८)

राग बिहाग, ताल दादरा

इश्कका तूफ़ाँ बपा है हाजते मैख़ाना नेस्त।
खूँ शराब ओ दिल कबाब ओ फ़ुर्सते पैमाना नेस्त॥
सरूत मख़मूरी है तारी ख़्वाह कोई कुछ कहे।
पस्त है आलम नज़रमें वहशते दीवाना नेस्त॥
अलविदा ऐ मर्ज़े दुनियाँ! अलविदा ऐ जिस्म ओ जान।
ऐ अतश? ऐ जू! चलो, ईंजा कबूतरख़ाना नेस्त॥
क्या तजल्ली है यह नारे इश्क़ शोलाख़ेज़ है।
मार ले पर ही यहाँपर ताक़ते परवाना नेस्त॥
मिहर हो मह हो दबिस्ताँ हो गुलिस्तां कोहसार।
मौजज़न अपनी है खूबी, सूरते बेगाना नेस्त॥
लोग बोले ग्रहणने पकड़ा है सूरजको ग़लत।
खुद हैं तारीकीमें वरमन साया महज़ूबाना नेस्त॥
उठ मेरी जाँ जिससे हो ग़र्क़ ज़ाते राममें।
जिस्म बहीश्रकी मूरत हरकते फरज़ाना नेस्त॥

(९)

राग परज, ताल धमाली

हमन हैं इश्कके माते, हमनको दौलतां क्या रे।
नही कुछ मालकी परवा, किसीकी मिन्नतां क्या रे॥
हमनको खुश्क रोटी बस, कमरमें इक लँगोटी बस।
सिरेपै एक टोपी बस, हमनको इज़्ज़तां क्या रे॥
क़बाशाला वज़ीरोंको ज़री ज़रबफ़्त अमीरोंको।
हमन जैसे फ़क़ीरोंको जगत्की न्यामतां क्या रे॥
जिन्होंके सुख़न स्याने हैं उन्हींको खल्क़ माने है।
हमन आशिक दिवाने हैं, हमनको मजलसां क्या रे॥
कियो हम दर्दका खाना लियो हम भस्मका बाना।
दिली बस शौक़ मनमाना किसीकी मसलतां क्या रे॥

(१०)

राग सावन, ताल दीपचन्दी

मना! तैने राम न जाना रे। (टेक)
जैसे मोती ओसका, रे तैसे यह संसार।
देखतहीको झिलमला रे जात न लागी वार॥ मना०
सोनेका गढ़ लंक बनाया, सोनेका दरबार।
रत्ती इक सोना न मिला, रे रावण, मरती बार॥ मना०
दिन गँवाया खेलमें, रैन गँवाई सोय।
सूरदास भजो भगवन्तहिं, होनो होय सो होय॥ मना०

(११)

राग धनाश्री

जीवतको व्योहार जगतमें, जीवतको व्योहार (टेक)
मातुपिता भाई सुत बान्धव, अरु निज घरकी नार॥ जग०

तनसे प्राण होत जब न्यारे, तुरतहि प्रेत पुकार ॥ जग०
अर्द्ध घड़ी कोई नहिं राखे, घरसे देत निकार ॥ जग०
मृगतृष्णा ज्यों रहे जग रचना, देखो हृदय विचार ॥ जग०
जन नानक यह मत सन्तनको देख्यो ताहि पुकार ॥ जग०

(१२)

राग केदार रूपक

रफ़ीक़ोंमें गर है मुरव्वत तो तुझसे ।
अज़ीज़ोंमें गर है मुहब्बत तो तुझसे ॥
ख़ज़ानोंमें जो कुछ है दौलत तो तुझसे ।
अमीरोंमें है जाह-ओ-सौलत तो तुझसे ॥
हकीमोंमें है इल्म-ओ-हिकमत तो तुझसे ।
घर रौनक़ जहाँ या है बर्कत तो तुझसे ॥
है रोकर यह तकरारे उलफत तो तुझसे ।
कि इतनी यह हो मेरी क़िस्मत तो तुझसे ॥
मेरे जिस्मो जांमें हो रफ़्त तो तुझसे ।
उड़े मा मनीकी यह शिर्कत तो तुझसे ॥
मिले सदक़ा होनेकी इज़्ज़त तो तुझसे ।
सदा एक होनेकी लज़्ज़त तो तुझसे ॥
उड़ें टेढ़ी बांकी यह चालाकियाँ सब ।
सिपर फेंक ढूँढ़ूँ सलामत तो तुझसे ॥

(१३)

लावनी सवैया

शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, अजर, अमर, अज, अविनाशी ।
जासु ज्ञानसे मोक्ष हो जाये, कट जाये यमकी फाँसी ॥
आदि, ब्रह्म, अद्वैत, द्वैतका जामें नाम निशान नहीं ।
अखंड सदा सुख जाका कोई आदि मध्य अवसान नहीं ॥

निर्गुण, निर्विकल्प, निर उपमा जाकी कोई शान नहीं।
निर्विकार, निरवैव, मायाका जामे रञ्चक भान नहीं॥
यही ब्रह्म हूँ, मनन निरन्तर करें मोक्षहित संन्यासी।
शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, अजर, अमर, अज, अविनाशी॥१॥

सब देशी हूँ, ब्रह्म, हमारा एक जगह अस्थान नहीं।
रमा हूँ सबमें, मुझसे कोई भिन्न वस्तु इन्सान नहीं॥
देख विचारो सिवा ब्रह्मके हुआ कभी कुछ आन नहीं।
कभी न छूटे पीड़ दुःखसे जिसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं॥
ब्रह्मज्ञान हो जिसे उसे नहिं पड़े भोगनी चौरासी।
शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, अजर, अमर, अज, अविनाशी॥२॥

अदृष्ट्ऽगोचर, सदा दृष्टिमें जिसका कोइ आकार नहीं।
नेति नेति कह निगम ऋषीश्वर पाते जिसका पार नहीं॥
अलख ब्रह्म लियो जान जगत् नहिं, कार नहीं, कोइ यार नहीं।
आँख खोल दिलकी टुक प्यारे, कौन तरफ़ गुलज़ार नहीं॥
सत्य रूप आनन्द राशि हूँ. कहँ जिसे घट घट वासी।
शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, अजर, अमर, अज, अविनाशी॥३॥

(१४)

गज़ल भैरवी

शाहंशहे जहान है, सायल हुआ है तू।
पैदा कुने ज़मान है डायल हुआ है तू॥
सौ बार गज़ होवे तो धो धो पियें क़दम।
क्यों चर्ख़ो मिहरो माह पे मायल हुआ है तू॥
ख़ंजरकी क्या मजाल कि इक ज़ख़म कर सके।
तेरा ही है ख़याल कि घायल हुआ है तू॥

क्या हर गदाओ शाहका राज़िक है कोइ और ।
अफलासो तंगदस्तीका क़ायल हुआ है तू ॥
दाइम है तेरे मुजरेके मौकेकी ताकमें ।
क्यों डरसे उसके मुफ़तमें ज़ायल हुआ है तू ॥
हमबगल तुझसे रहता है हर आन राम तो ।
बन परदा अपनी वस्लमें हायल हुआ है तू ॥

(१५)

राग बिहाग, ताल दादरा

मिकराज़े मौज दामने दरया कतर गयी ।
वहदतका बुर्क़ा फट गया, सारी सतर गयी ॥ टेक—
दरयाए बेखुदीपै जो बादे खुदी चली ,
कसरतकी मौज होके वह सारे पसर गयी ॥
इस्मो सिफ़तके शौकने ऐसा किया रज़ील ,
गुमनामो बेसफातिकी सारी क़दर गयी ॥
जामा वजूद पहनके बाज़ारे दहरमें
ज़ातो सिफ़ात अपनीकी सारी ख़बर गयी ॥
फरज़न्दो मालो ज़नकी मुहब्बतमें होके ग़र्क़ ।
इन्सानके वजूदकी सारी वक़र गयी ॥
शहवत तमा-ओ-ख़श्म-ओ तकब्बरमें आ फँसे ।
यकताई ज़ातकी जो शरम थी, उतर गयी ॥
यह कर लिया, यह करता हूँ, यह कल करूँगा मैं
इस फ़िकरो इन्तज़ारमें शामो सहर गयी ॥
बाक़ी रही जो दिलकी सफ़ाईमें सर्फ़ कर ।
आरायशे वजूदमें सारी गुज़र गयी ॥
भूले थे देख दुनियाकी चीज़ोंको हम यहाँ ।
दाईने इक तमाचा दिया, होश फिर गयी ॥

ग़फ़लतकी नींदमें जो तअय्युनकी ख़्वाब थी
बेदार जब हुए तो न जाना किधर गयी ॥
माशूककी तलाशमें फिरते थे दर बदर ।
पेश आया बेनक़ाब ढूँढ़की नजर गयी ॥
दिलदारका वसाल हुआ दिलमें जब हसूल ।
दिलदार ही नजर पड़ा दीदा जिधर गयी ॥
साक़ीने भरके जाम दिया मारफ़तका जब ।
दस्तार भूली होश गया, यादे सर गयी ॥

(१६)

गज़ल ताल पश्तो

पीता हूँ नूर हरदम, जामे सरूर पैहम ।
है आस्मान प्याला, वह शराब नूर वाला ॥ टेक—
है जीमें अपने आता, हूँ जो है जिसको भाता,
हाथी, गुलाम, घोड़े, जेवर, जमीन, जोड़े ।
ले जो है जिसको भाता, माँगे बग़ैर दाता ॥ पीता हूँ० ॥१॥
हर क़ौमकी दुआयें हर मतकी इल्तजायें,
आती हैं पास मेरे, क्या देर, क्या सवेरे ।
जैसे अड़ाती गायें जंगलसे घरको आयें ॥ पीता हूँ० ॥२॥
सब ख़्वाहशें, नमाज़ें, गुण, कर्म, और मुरादें,
हाथोंमें हूँ फिराता, दुनिया हूँ यों बनाता,
मेमार जैसे ईंटें हाथोंमें है घुमाता ॥ पीता हूँ० ॥३॥
दुनियाके सब बखेड़े, झगड़े, फ़साद, झेड़े,
दिलमें नहीं अड़कते, न निगहको बदल सकते ।
गोया गुलाल हैं ये, सुर्मा मिसाल हैं ये ॥ पीता हूँ० ॥४॥

नेचरके लाज़ - सारे अहकाम हैं हमारे,
क्या मिहर क्या सितारे हैं मानते इशारे।
हैं दस्त-ओ-पा हर इकके मर्ज़ीपे मेरी चलते ॥ पीता हूँ० ॥५॥
कशिशे सिकलकी कुदरत मेरी है मिहरो उलफत,
है निगाह तेज़ मेरी, इक नूरकी अँधेरी।
बिजली शफ़क़ अँगारे, सीनेके हैं शरारे ॥ पीता हूँ० ॥६॥
ख़्वाह इस तरफ़को फेंकूँ ख़्वाह उस तरफ़ चला दूँ,
पीता हूँ जाम हरदम, नाचूं मुदाम धम धम,
दिन रात है तरन्नम, हूँ शाहे राम बेग़म ॥ पीता हूँ० ॥७॥

(१७)

नै

ख़ाली बिलकुल है बाँसकी यह नै,
चन्द सूराख़दार बेशक है।
बोसा देता है उसको जब नाई,
निकल उस नैसे सात सुर आई ॥
रागनी राग सब हुए ज़ाहिर,
मुख़्तलिफ़ भाग सब हुए बाहिर।
एक ही दमने यह सितम ढाया,
कलेजा बल्लियों उछल आया ॥
सब सुरोंमें जो मौज मारे है,
दम वह तेरा ही कृष्ण प्यारे है।
दम तो फूँके था एक मुरलीधर,
मुख़्तलिफ़ ज़मज़मे बने क्योंकर?
सामआ बासिरा ख़यालो अक़्ल,
सबमें बासिल हुआ करै है नक़्ल।

मर्द, औरत, गदामें शाहोंमें,
क़हक़हों, चहचहोंमें, आहों में ॥
क़ुतब तारेमें, मिहरमें, मह्में,
झोपड़ेमें, महलसरा रहमें।
एक ही इसका यह पसारा है,
सबमें वासिल है, सबसे न्यारा है ॥
दैरे दुनियाकी इक तिही नैमें,
प्राण तेरेने राग फूँके हैं।
तूही नाई है, कृष्ण प्यारा है,
सारी दुनिया तेरा पसारा है ॥

(१८)

शीश महल

शीश मन्दिरमें इक दफ़ा बुल्डाग,
आ फँसा तो हुआ बगूला आग।
जौक़ दर जौक़ पल्टने सग थे,
ठटके ठट लग रहे थे कुत्तोंके ॥
सख़्त झुँझलाया यह, वे झुँझलाये,
चार जानिबसे तैशमें आये।
बिगड़ा मुँह उसका, वे भी सब बिगड़े,
जब यह उछला तो सबके सब कूदे ॥
जब यह भौंका, सदाए गुम्बदसे,
क्या ही औसां ख़ता हुए इसके।
मैं मरा, मैं मरा, समझकर वाय!
मर गया डाग, सिरको धुनकर वाय!
शीश मन्दिरमें आके दुनियाके,
आहिले गैरबीं मरा भौंके।

रस्तुमें क्यों भरमता जाता है,
अपने आपेमें क्यों न आता है॥

(१६)

दार्ष्टान्त

गाह मालिक मकानका आया,
मर्दे दानाने जल्वा फ़रमाया।
रूये-ज़ेबाको हर तरफ़ पाया,
फ़र्ते शादीसे सीना भर आया॥
फ़र्श अतलस नफ़ीस झालरदार,
इत्रो अंबर लतीफ़ खुशबूदार।
तख़्ते ज़र्रीं रेशमी तकिए,
गद्दे मख़मलके ज़ेब हैं देते॥
बैठा ठस्सेसे ज़ीनते-ख़ाना,
गुदगुदी दिलमें झूमता शाना।
जब नज़र चारसू उठा देखा।
कुछ न अपनेसे मासिवा देखा॥
गरचे वाहिद था, पर हज़ारों जा,
जलवा-अफ़गन रुख़-सफ़ा देखा।
गाह मूछोंको ताव दे देके,
सूरते-वीर रसमें आ देखा॥
करके शृंगार कंघी पट्टीका,
पान होठों तले दबा देखा॥
तेग़े-मिस्रीको देखनेके लिए,
प्यारी प्यारी भँवें चढ़ा देखा।
ख़न्दए-गुलकी दीदकी ख़ातिर,
क्या तहे-दिलसे खिलखिला देखा॥

अब्रे नैसांका लुत्फ़ लेनेको,
तार आँसूका भी लगा देखा।
ग़ैर देखै है जैसे इस तनको,
उस तरह इससे हो जुदा देखा॥
अक्स इक छोड़ असलको आये,
सब वजूदोंमें फिर समा देखा।
गोलियाँ पीली, काली, सुर्ख़ और सब्ज़,
मुँहसे अपने निकाल बाज़ीगर,
आपही देखता है अपने रंग,
आपही हो रहा है मुतहय्यर।
बैठ हर तरह शीश मन्दिरमें,
ठाट पट्टेने बन बना देखा।

सुषुप्ति—

मस्त कारण शरीर बन बैठा।
चार खूंटोंमें लेटता देखा॥ (व्यष्टि)

स्वप्न—

ख़ुद जो जिसमें ख़यालको धारा।
जुमला आलम ख़यालका देखा (समष्टि)

जाग्रत—

जागी सूरत क़बूलकी जब ख़ुद,
सबको फिर जागता हुआ देखा।
तुझसे बढकर हूँ तेरा अपना आप,
मुझको अपनेसे क्यों जुदा देखा।
एक ही एक ज़ाते वाहिद राम,
जुम्ला सूरतमें जाबजा देखा।

गद्दी तकियेसे मैं नहीं हिलता,
हिलता किसने सुना है या देखा॥
क्यों खुशामदकी बात करते हो,
शीशा मसनद मकान ही कब था।
यह तो सब इक ख़याली लीला थी,
मौजमें अपने आप ज़ाहिर था॥
मौज भी आप लीलावीला आप,
लाल नुत्क़ो ज़बान यॉंपर था।
नुत्क़में और शब्दमें मौजूद,
एक वाहिद सा फ़ोटो रौशन था॥

कोहेनूरका खोना

ज़ेरे-नादिर हुआ मुहम्मदशाह,
देहली उजड़ी ज़लील अख़्तर आह।
गरचे नादिरने खूब ही ढूँढा,
न मिला कोहेनूरका हीरा॥
कह दिया इक हरीस लौंडीने,
है छिपाया कहाँ मुहम्मदने।
उसको पगड़ीमें सीके रखता था,
जुदा उसको कभी न करता था॥
फिर तो बेहद तपाकसे आकर,
बोला नरमीसे प्यारसे नादिर।
ऐ शहे-मेहरवाँ मुहम्मद शाह,
यार भाई है तेरा नादिर शाह॥
पगड़ियाँ आज तो बदल लेंगे,
दिल मुहब्बतसे ख़ूब भर लेंगे।

रस्मे-उल्फ़त अदा करो हमसे .
यह मुहब्बत वफ़ा करो हमसे ॥
छुट गयी गो हवाइयाँ मुँहपर ,
ज़ाहिरी ख़न्दाँ बोला हाँ हाँ कर ।
शौक़से पगड़ी बदलिएगा शाह ,
मारा बेबस रंगीला देहली शाह ॥
थी मुहम्मद्को ज़ाहिरी इज़्ज़त ,
यह तबद्दुल था असलमें ज़िल्लत ।
क़ीमते-मस्नुकतसे पढ़कर था
हीरा पगड़ीमें उसको खो बैठा ॥
ऐ अज़ीज़ो यह इज्ज़तो दौलत ,
नफ़्से नादिर है बरसरे उल्फ़त ।
दामे-तज़वीरमें न आ जाना ,
जाँ ! न भरेंमें फॅस फँसा जाना ॥
ख़िलअते फ़ाख़रासे हो ख़ुरसन्द ,
खोके हीरा बने हो दौलतमन्द ।
चैन पड़नेको है नहीं हरगिज़ ,
अमन हीरे बिना नहीं हरगिज़ ॥
ज़ाती जौहरसे जाती इज्ज़त है ,
बाक़ी मा वो-मनीकी इल्लत है ।
अब तू फ़ख़्रे ख़िताब लेता है ,
आत्माको इताब देता है ॥
तू करीमे जहाँ है दाता है ,
छोटा अपनेको क्यों बनाता है ।
सबको रौनक़ है तेरे जलवेसे ,
तुझको इज्ज़त भला मिलै किससे ॥

सनद सर्टीफिकेट डिगरीकी,
आरज़ूमें है क़ैद ग़म तनकी।
तू तो माबूद है ज़मानेका,
क़ैद मत हो किसी बहानेका॥

(२०)

ख़िलाफ़ नेपोलियनको

वाह नेपोलियन! निडर शहमर्द।
टिड्डी-दल-फौज तेरे आगे गर्द॥
हाल्ट करदे सिपाहे-दुश्मनको।
लर्ज़ां करदे अकेला लशकरको॥
जान-बाज़ीमें शेर-मर्दीमें।
खुश खुशाँ दश्ते ग़म-नवर्दीमें।
ग़ैबसे और ग़ज़बकी सौलतसे।
तू बराबर था हिन्दू औरत के॥
राजपूतोंकी औरतोंका दिल।
न हिले गरचे कोह जाए हिल॥
उनकी जानिबसे शेरको चैलेंज।
लैक शोहरतके नामसे है रंज॥
पुश्ते कुश्तोंके कर दिए हरसू।
खूनके जूय भर दिए हरसू॥
मुल्कपर मुल्क तूने मार लिया।
पर कहो उससे क्या सँवार लिया॥
देनी चहिए थी राजको वसअत।
पर मिली हिर्सो आज़को वसअत॥
दिल तो वैसा ही रह गया प्यासा।
जैसा अंगो अदलसे पहले था॥

(२१)

सीज़र

ऐ शहंशाह जूलियस सीज़र !
सारी दुनियाका तू बना अफ़सर ॥
इतना क़िस्सेको तूल क्यों खेंचा।
दिल ज़मींमें फ़ज़ूल क्यों सींचा ॥
सख़्त दिलमें रहा तअज्जुब ख़ेज़।
ख़दशा पहलूमें मौजे दर्द-अंगेज ॥
आ ! तेरी मंज़िलतको आज बढ़ायें।
केवाँ सय्यारेसे भी आगे जायें ॥
क्यों न इतना भी तुमको सूझ पड़ा।
जिसमें शै आये वह है शैसे बड़ा ॥
जुज़्व कुलसे हमेशा छोटा है।
छोटा कमरेसे बक्सो-लोटा है ॥
जब कि तुझमें जहान आता है।
आँखमें बहरो बर समाता है ॥
कोहो दरिया व शहरो सहरा बाग़।
बादशाहो गदा व बुल्बुलो ज़ाग़ ॥
इल्ममें और शऊरमें तेरे।
ज़र्रेसे चमकते हैं बहुतेरे ॥
खुदको महदूद क्यों बनाते हो।
मंज़िल अपनी पड़े घटाते हो ॥
तुझमें छोटे बड़े समाये हैं।
तू बड़ा है यह जिसमें आये हैं ॥
मुल्क सरसब्ज़ और ज़मीं शादाब।
है शुआमें तेरी सुराब व आब ॥

शम्स मर्कज़ नज़ामे-शम्सीका ।
है नहीं, तू है आसरा सबका ॥
नूर तेरेहीसे ज़िया लेकर ।
मेहर आता है रोज़ चढ़ बढ़ कर ॥
अपनी किरणोंके आबमें खुद ही ।
डूब मत मर सुराबमें खुद ही ॥
जान अपनेको गर लिया होता ।
क़बज़ा आलम प झट किया होता ॥
सल्तनतमें मती चरिन्दो परिन्द ।
राजे महाराजे होते ज़ाहिदो रिन्द ॥
ज़ातमें हल्ले दिल किया होता ।
हल्ले उक़दा भी यूँ किया होता ॥
हाथमें खड्ग हो कि खंडा हो ।
क़लम हो या बुलन्द झंडा हो ॥
जुदा अपनेको इनसे जानते हैं ।
इनके टूटे न रंज मानते हैं ॥
आपको शूर वीर इस तनसे ।
जुदा मानें हैं जैसे आहनसे ॥
गर बलासे यह जिस्म छूट गया ।
क्या हुआ गर क़लम य टूट गया ॥
तू है आज़ाद, है सदा आज़ाद ।
रंजो ग़म कैसा अस्लको कर याद ॥
ऐ ज़माँ ! क्या यह तुममें ताक़त है ।
ऐ मकाँ तुझमें क्या लियाक़त है ॥
कर सको क़ैद मुझको, मुझको क़ैद ।
पलकमें तुम हो कल्अदम नापैद ॥

फ़िक्रके पापके उड़ें धूएँ ।
गर कभी हमसे आनकर उलझें ॥
पुर्ज़े पुर्ज़े अलग हुए डरके ।
धज्जियाँ जेहलकी उड़ीं डर से ॥

(२५)

शाहे ज़मांको वरदान

क़ैसरेहिन्द ! बादशह दावर ।
आगता है सदा शहे ख़ावर ॥
राजपर तेरे मग़रिबो मशरिक़
चमकता है सदा शहे मशरिक़ ॥
शाहे मशरिक़की ब्रह्मविद्या है ।
रानी विद्याओंकी यह विद्या है ॥
आहज़ाती रहे क़रीब तुम्हें ।
शाह इल्मोंका हो नसीब तुम्हें ॥
नूरका कुछ दिमाग़में दमके ।
हिन्दका नूर ताजपर चमके ॥
तेरे फ़िक्रो ख़यालके पीछे
शीरीं चश्मा अजीब बहता है ॥
यह ही चश्मा था व्यासके अन्दर ।
ईसा अहमद इसीमें रहता है ॥
इस ही चश्मेसे वेद निकले हैं ।
इस ही चश्मेसे कृष्ण कहता है ॥
चलिए आबे हयात याँ पीजे ।
दुःख काहेको यार सहता है ॥
पिछले ऋषियोंने इस ही चश्मेसे ।
घड़े भर भरके आब रक्खे थे ॥

दुनिया पलटे ज़माना बदलेगा।
पर यह चश्मा सदा हरा होगा॥
मिहर डूबेगा फ़लक टूटेगा।
पर यह चश्मा सदा हरा होगा॥
रस्मो मिल्लत तो होंगे मलियामेट।
पर यह चश्मा सदा हरा होगा॥
ऐसे चश्मेसे भागते फिरना।
बासी पानीको ताकते फिरना॥
तिश्ना रक्खेगा वहमे खातिरे आब।
जा बजा आग तापते फिरना॥
रामको मानना नहीं काफ़ी।
जानना उसका है फ़कत शाफ़ी॥
बाकले कांट मिल्ल हैमिल्टां।
जुस्तजूमें तेरी हैं सरगदां॥
बाइबिल वेद शास्त्र वो कुरआन।
भाट तेरे हैं पे शहे रहमान॥
अपनी अपनी लियाक़तें लेकर।
नर ज़बां गा रहे हैं तेरी शान॥
मदहख्वां शायरोंको दो इनआम।
वक़ दरबारे-ख़ासो जल्से-आम॥

(७३)

आनन्द अन्दर है

सगने हड्डी कहींसे इक पाई।
शेरे-नर देख फ़िक्र यह आई॥
कि कहीं मुझसे शेर छीन न ले।
हड्डी इक उससे शेर छीन न ले॥

लेके मुँहमें उसे छिपाकर वह।
भागा खाईंको दुम दबाकर वह॥
हड्डी चुभती थी मुँहमें जब रगको।
खून लगता अज़ीज़ था सगको॥
मज़ा अपने लहूका आता था।
पर वह समझा मज़ा है हड्डीका॥
शेरे-नर बादशाहे-तनहा-रौ।
हड्डी मुर्दे हों हर तरफ़ सौ सौ॥
वह तो ना आँख भरके तकता है।
सगे-नादांका दिल धड़कता है॥
स्वर्गकी निअमतें हों दुनियाकी।
हैं तो ये हड्डियाँ ही मुर्दोंकी॥
इनमें लज़्ज़त जो तुमको आती है।
दर असल एक आत्माकी है॥
ऐ शहंशाहे-मुल्क! ऐ इन्दर!
छीनता वह नहीं ज़रो गौहर॥
राज दुनियाका और स्वर्गो बहिश्त।
बाग़ो गुल्ज़ारो संगे मरमरो ख़िश्त॥
निअमतें यह तुम्हें मुबारक हों।
बारे-ग़म यह तुम्हें मुबारक हों॥
देखना यह तुम्हारे मक़बूज़ात।
क़ब्ज़ करते हैं क्या तुम्हारी ज़ात॥
जाने-मन! नूरे-ज़ातहीका नाथ।
कौन रखता नहीं है सूरज साथ॥
जो ग़नी ज़ातमें है हीरो मीर।
जल्वागर दर वजूदे वरना पीर॥

सब दहानोंसे वह ही खाता है।
स्वाद खाने भी बनके आता है॥
यह हूँ मैं, यह हो तुम, यह असनीयत
मोजज़ा है तेरा न असलीयत॥
सुवरो अशकाल सब करामत है।
मेरी कुदरतकी यह अलामत है॥

(२४)

सिकन्दर और साधु

क्या सिकन्दरने भी कमाल किया।
गुलगुला शोरो शरका डाल दिया॥
बर लबे आबे सिन्ध जब आया।
डट गया फ़ौज लेके झल्लाया॥
उन दिनों एक सालिको मालिक
से मुलाक़ी हुवा रहा हक़ दक़॥
क्या अजब था फकीर आलमगीर।
क़ल्ब साफ़ी मिसाले गंगा नीर॥
उसकी सूरत जमाले सुर्यानी।
गुफ़्तगूमें जमाले उर्यानी॥
उस गुसाईंने कुछ न गरदाना।
ज़ोरो ज़ारी व ज़रसे फुसलाना॥
शीशा आईनागरको दिखलाया।
दंग जूं आइना वह हो आया॥
रहके शशदर वह बादशाहे जहाँ।
बोला साधूसे सूरते हैरां॥
हिन्दमें क़द्र ना परखते हैं।
हीरेको चीथड़ोंमें रखते हैं॥

चलिएगा साथ मेरे यूनांको।
क़दमरंजा करो मेरे हांको॥

अवधूतका जवाब

क्या ही मीठी ज़बानसे बोला।
रास्तीपर कलामको तोला॥
कोई मुझसे नहीं है ख़ाली जा।
पूर पूरण कभी नहीं हिलता॥
जाऊँ आऊँ कहाँ किधरको मैं।
हर मकां मुझमें हर मकांमें मैं॥
यह जो लाहूतसे सदा आयी।
यवन बेचारेको नहीं भायी॥
फिर लगा सिर झुकाके यूं कहने।
इसके समझा नहीं हूँ मैं माने॥
मुश्को काफ़ूरो इत्रो अम्बर बू।
अस्पो गुलज़ारो नाज़नीं ख़ुश-रू॥
सीमो ज़र, ख़िलअतो समा व सरोद।
मेवे हर नौके आबशार व रोद॥
यह मैं सब दूँगा आपको दौलत।
हर तरह होगी आपकी ख़िदमत॥
चलिएगा साथ मेरे यूनांको।
चल मुबारक करो मेरे हांको॥
मस्त मौलासे तब यह नूर झड़ा।
आसांसे सितारा टूट पड़ा॥
झूठ झूठोंहीको मुबारक हो।
जहल नीचे दबै जो तारक हो॥

मैं तो गुलशन हूँ आप खुद गुलरेज़ ।
खुद ही काफूर खुद ही अम्बररेज़ ॥
सोने चाँदीकी आबोताब हूँ मैं ।
गुलकी बू मस्तिए शराब हूँ मैं ॥
रागकी मीठी मीठी सुर मैं हूँ ।
दमक हीरेकी आबे दुर मैं हूँ ॥
खुशमज़ा सब तआम है मुझसे ।
अस्पकी खुशख़राम है मुझसे ॥
रक्स है आबशारका मेरा ।
नाज़ो-इश्वा है यारका मेरा ॥
ज़र्क़ बर्क़ सुनहरी ताज तेरा ।
मेरा मुहताज, मोहताज मेरा ॥
चाँदनी मुस्तआर है मुझसे ।
सोना सूरज उधार ले मुझसे ॥
कोई भी शै जो तेरे मन भाई ।
मैंने लज़्ज़त अता है फ़रमाई ॥
दे दिया जब फिर उसका लेना क्या ।
शाहे शाहांको यह नहीं ज़ेबा ॥
करके बख़शिश मैं बाज़ क्यों लूँगा ।
फेंककर थूक चाट क्यों लूँगा ॥
प्रकृतीको तो ईद मुझसे है ।
माँगूँ अब मैं वईद मुझसे है ॥
खुद खुदा हूँ सरूरे-पाक हूँ मैं ।
खुद खुदा हूँ ग़रूरे पाक हूँ मैं ॥
ऐसा वैसा जवाब यह सुनकर ।
भड़क उट्ठा ग़ज़बसे असकन्दर ॥

चेहरा गुस्सेसे तमतमा आया।
रगे-रग जोश मारता आया॥
खैंच तलवार तान ली झटपट।
जानता है मुझे तू ऐ नटखट॥
शाहे-ज़ी-जाहे मुल्के-दारा जम।
मैं हूँ शाहे-सिकन्दरे-आज़म॥
मुझसे गुस्ताख़ी गुफ़्तगू करना।
भूल बैठा है क्यों अभी मरना॥
काट डालूँगा सर तेरा तनसे।
ज़र्बे-शमशीरसे अभी दनसे॥
देखकर हाल यह सिकन्दरका।
साधू आज़ाद खिलखिलाके हँसा॥
कज़ब ऐसा तू ऐ शहंशाहा।
उम्र भरमें कभी न बोला था॥
मुझको काटे! कहाँ है वह तलवार।
दाग़ दे मुझको! है कहाँ वह नार॥
हाँ गलाए मुझे! कहाँ पानी।
बाद ले ही सुखा! मरे नानी॥
मौतको मौत आ न जायेगी।
क़स्द मेरा जो करके आयेगी॥
बैठ बालूमें बच्चे गंगा तीर।
घर बनाते हैं शाद या दिलगीर॥
फ़र्ज़ करते हैं रेत में खुद घर।
यह रहा गुम्बद औ इधर है दर॥
खुद तसव्वरको फिर मिटाते हैं।
ख़ाना अपना वह आप ढाते हैं॥

चमकका घर बना था वह मिटा।
बालू था बादमें जो पहले था॥
रेग सुधरा था नै ख़राब हुआ।
फ़र्ज़ पैदा हुआ था खुद बिगड़ा॥
रास्त तू उस ज़बाँसे सुनता है।
पर पड़ा आप जाल बुनता है॥
तू जो समझा यह जिस्म मेरा है।
फ़र्ज़ तेरा है, फ़र्ज़ तेरा है॥
सर यह तनसे अगर उड़ा देगा।
फ़र्ज़ अपनेहीको गिरा देगा॥
रेतका कुछ न तो बुरा होगा।
खाना तेरा ख़राब ही होगा॥
मेरी वसअतको कौन पाता है।
मुझमें अर्ज़ो समा समाता है॥
ताज जूतेके दरमियाँ बाक़ा।
मैं नहीं हूँ, न तू है, जाँ! बाक़ा॥
इतना थोड़ा नहीं हदूद अर्बा।
पगड़ी जोड़ा नहीं हदूद अर्बा॥
अपनी हत्तक यह क्यों करी तुमने।
बात मानी मेरी बुरी तुमने॥
क्यों तनिक कर दिया है आतमको।
एक जौहर बनाया कुलज़मको॥
खुद तो मग़लूब तुम ग़ज़बके हो।
शाहे जज़बातसे भी अड़ते हो॥
गुस्सा मेरा गुलाम, तुम उसके।
बन्दए बन्दगाँ रहो बचके॥

गिर पड़ी शहके हाथसे शमशेर।
निगहे-आरिफ़से हो गया वह ज़ेर।
क्या अजब है कि शेरे-आलः-तेग़ ॥
गर्जता था, मिसाले बारां मेग़ ॥
शहके ग़ैजो-ग़ज़बको जो मादर
नाज़ तिफ़लकका जानता था गर ॥
और वह शाहे-सिकन्दरे-रूमी
बात छोटीसे हो गया ज़ख़मी ॥
पास उस वक्त अपनी इज्ज़तका
हर-दो जानिबको एक जैसा था ॥
लैफ शहको थी जिसमें आनर।
शाहे-शहका था आतमामें घर ॥
क़िला मज़बूत उसका ऐसा था
ऊँचे सूरजसे भी परे ही था ॥
कर सकै कुछ न तीरकी बौछार।
ख़ाली बन्दूक़का भी जाये वार ॥
इस जगह ग़ैर आ नहीं सकता
यहाँसे कोई जा नहीं सकता
इस बुलन्दीसे सर्फ़राज़ीसे
क़िलए-मजबूत शेरे-ग़ाज़ीसे ॥
यह ज़मी और इसके सब शाहाँ
तारा साँ, ज़र्रा-साँ कि नुक़ता-साँ ॥
नुक़ता-मौहूम बन हुए नाबूद।
एक वहदत हूँ हस्तो बाशदो बूद ॥
मिट गये जो सिपाहे-तारीकी।
ताब किसको है एक झाँकीकी ॥

रूए आलम प जम गया सिक्का।
शाहे-शाहाँ हूँ शाहे-शाहां शाह ॥
अह्ले-हैयतने भी पढ़ा होगा
नुक्ता क्या खूब यह रयाज़ीका
जब कि ला-जुब एफ सितारेका
वह्ममें हो हिसाब या लेखा,
सिफ़र-साँ यह ज़मीने-पेचाँ-पेच
हेच गिनते हैं, हेच, मुतलक़ हेच ॥
अब कहो जाते- बुहतऽके होते।
क्यों न अजसाम जानको रोते ॥

ॐ तत्सत्

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ विज्ञापन ॐ

शीघ्र !!!

चाहिए चाहिए चाहिए

सुधारक—औरोंके नहीं, अपने

सनद—आत्म-संयमके हों, मनके दमनके हों

विद्यालयोंके न हों

अवस्था—कालातीत ब्रह्मानन्दका पूर्ण यौवन

वेतन—पूर्ण ब्रह्मत्व, अखिल आत्मत्व

शीघ्र लिखिये

प्रार्थना और विनयपत्र नहीं

वरन्

अपना स्वनिश्चय स्वराज्यादेश

किसको ? विश्व-संचालकको

पता देशातीत अपना आप।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

अद्वैतवादपर कुछ

उपयुक्त ग्रंथावली

१—खुमख़ान-ए-राम (उर्दू) [रिसाल-ए-अलिफ़का संग्रह]

२—स्वामीरामके व्याख्यानादि, अनेक भागोंमें।

३—वेदानुवचन, बाबा नगीनासिंह वेदीकृत।

४—विचार-सागर।

५—अपरोक्षानुभूति (शंकर-स्वामी)

६—शास्त्रोक्तोपासनाकी प्रस्तावना।

७—दादूपंथी कवि सुन्दरदासकी रचनाएं।

८—योगवासिष्ठ महारामायण।

९—श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्।

१०—अन्य उपनिषदें।

११—ब्रह्म-सूत्र। शांकर भाष्य।

१२—पंचदशी।

१३—अवधूत गीता।

१४—अष्टावक्र गीता।

१५—सनत्सुजात गीता।

१६—उत्तर गीता।

विदेशी शब्दोंका कोष

अ

अजसाम, शरीर।
अतश, प्यास।
अन्देशा, चिन्ता, सन्देह।
अफगन, छोड़ने या डालनेवाला।
अफ़लास, दरिद्रता।
अब्र, अभ्र, बादल।
आबेहयात, अमृत।
अमन, शान्ति।
अरबा, चार।
अलविदा, विदा होना।
अलस्तु कालू, मैं हूं या नहीं हूं इस तरह का प्रश्न करने वाला।
अस्प, घोड़ा।
असनीयत, द्वैत।
अहकाम, आज्ञाएं।

आ

आख्त, खिंचा।
आगाज़, आरंभ।
आज़, लोभ।
ऑनर, मान।
आब, पानी।
आबशार, झरना।
आरायश, बनाव चुनाव।
आलम, मसार।
आलमगीर, व्यापक।
आली, उच्च।
आहन, लोहा।
इताब, क्रोध।
इन्सान, मनुष्य।
इस्तजा, विनती।
इल्मोहिकमत, ज्ञान विज्ञान।
इल्लत, कारण, खराबी।
इशवा, हावभाव, हेला।
इश्क़, प्रेम।
इसरार, रहस्य।
इसलाम, मुसलिम या मुसलमानी मत।

ई

ईंजा, यहाँ।

उ

उक़दा, ग्रंथि, गाठ, रहस्य।
उरयानी, नग्नावस्था।
उलफत, प्रेम।

औ

औसाँ, होश हवास।

अं

अंजाम, परिणाम ।

क

कज़ाव, झूठ ।

क़फ़स, पींजरा ।

करीम, कृपालु ।

कलअदम्, मिटा हुआ ।

कल्ब, हृदय ।

कशिश, आकर्षण ।

कस्द, इरादा ।

कसरत, अनेकत्व ।

काबा, मसजिद ।

कायल, मानने वाला ।

कुतब, ध्रुव ।

कुदरत, शक्ति ।

कुफ़्र, अमुसलिमत्व ।

कुलज़म, समुद्र ।

कुश्ता, मारा हुआ ।

कैवाँ, शनि, सत्य लोक ।

कोह, पहाड़ ।

कोहसार, पहाड़ी प्रदेश ।

ख

ख़ता, चूक ।

ख़दशा, खटका ।

ख़न्दः, हँसी खिलाना ।

ख़लल, विघ्न, बाधा ।

ख़लिश, खुटका चुभना ।

ख़श्म, क्रोध ।

ख़ाना, घर ।

ख़ाम, कच्चा ।

ख़ावर, सूर्य्य ।

ख़िश्त, ईंट ।

ख़ुदी, अहंभाव ।

ख़ुरशीद, सूर्य्य ।

ख़ुशरू, सुमुखी ।

रवेज़, उठ, उठानेवाला ।

ख़्वाह, चाहे ।

ग

गदा, भिखारी ।

ग़र्क़, डूबा हुआ ।

गाड, ईश्वर ।

गुमनाम, अनाम, जिसे कोई न जानता हो ।

गुल, फूल ।

गुलज़ार, फुलवारी ।

गुलशन, फुलवारी ।

गुलिस्ताँ, वाटिका ।

ग़ैज़, क्रोध ।

ग़ैरबीं, पर दृष्टिवाला।
गंज, खजाना।

च

चर्ख़, चक्र, आकाश।

ज

ज़ख़्मात, विकार।
जद्दल, युद्ध।
ज़न, स्त्री।
ज़मज़मे, स्वर, राग।
ज़माना, काल।
जमाल, सौन्दर्य।
ज़र्री, सुनहला।
जलवा, तेज।
जल्व:गर, प्रकाशक।
जहल, अज्ञान।
ज़ाग़, कौआ।
ज़ात, स्वरूप।
जाम, प्याला।
ज़ायल, दुबला।
जाह, दबदबा।
जाहोसौलत, बड़प्पन।
ज़िल्लत, खराबी।
जिस्म, देह।
जिस्मोइस्म, नाम-रूप।
जौनत, गौरव।
ज़ुज़्व, अंश।
जुमला, कुल, तमाम।
जुस्तजू, खोज।
जू, नाला, नहर।
ज़ेब, शोभा।
ज़ेर, नीचे।
ज़ौकदरज़ौक, झुन्डके झुन्ड।

ट

टाइम, काल।

ड

डाग, कुत्ता।
डायल, घड़ीका चेहरा।

त

तअय्युन, भेदभाव।
तआम, भोज्य।
तकब्बुर, अभिमान।
तकरार, बार बार कहना।
तख़य्यल, कल्पना।
तज़वीर, कपट।
तनहा-रौ, अकेले जानेवाला।
तबद्दुल, परिवर्तन।
तमसख़ुर, मसखरापन, खेल।
तमा, लोभ।

तरन्नम, वर्षा।
तसखीर, विजय।
तसव्वर, कल्पना।
तारक, त्यागी।
तारी, छायी।
तारीकी, अँधेरा।
तिफ़लक, बच्चा।
तिला, स्वर्ण।
तिश्रा, प्याला।
तिही, खाली।
तेग, तलवार।
तैश, क्रोध।

द

दबिस्तां, पाठशाला।
दम, रक्त, प्राण।
दरवदर, द्वारद्वार।
दरिया, समुद्र।
दश्त, बयाबान, जंगल।
दस्तार, पगड़ी।
दस्तोपा, हाथ पैर।
दाना, ज्ञानी, पण्डित।
दाम, जाल।
दामन, अंचल।
दामनी, एक गहना।
दीद, दर्शन।
दीदा, आखें।
दुई, द्वैत।
दैर, देवमन्दिर।

न

नक़ल, गति, सचालन।
नजाम, मण्डल, संघटन।
नफस, मन।
नवर्दा, यात्रा।
नाई, बंसी बजानेवाला।
नागहानी, आकस्मिक।
नाज़, लाड।
नाजनीं, ललना।
नाफ़र्जाम, नीच।
नाबूद, नेस्त। असत्। सत्ताहीन।
नार, आग।
नुत्क, वाक्।
नूर, ज्योति।
नेस्त, नास्ति, नहीं है। असत्।
नै, बांसुरी।
नैसां, आश्विनका महीना। स्वाती नक्षत्रका समय।
नौ, प्रकार।
नंग, लाज।

प

परवाना, पतंग।

पस्त, नीचे।

पुख़्ता, पुष्ट।

पेश, आगे।

पैहम, निरन्तर।

पैदाइश, रचयिता।

फ

फ़रज़न्द, पुत्र।

फ़रज़ाना, बुद्धिमान।

फ़र्त, आधिक्य।

फ़ाख़रा, सम्मानप्रद।

फ़रमाँ, फ़रमान, राजादेश।

फ़ाश, खुला।

ब

बदगो, अनुचितवादी।

बपा, बरपा, खड़ा।

बर, भूमि।

बरमन, मुझपर।

बरसर, सरपर।

बहर, समुद्र।

बाद, हवा।

बारां, वर्षा।

बाशद, हो।

बासरा, नयन। दृष्टि।

बीम, भय।

बुर्का, घूँघट।

बुहव, अखिल, विस्तृत, फैला हुआ।

बूद, था।

बेख़ुदी, अहम्भावका लोप।

बेदार, जाग्रत।

बे नक़ाब, बे घूँघट।

बे सिफ़ाती, निर्गुणत्व।

बोसा, चुम्बन।

म

मख़फ़ी, गुप्त।

मख़मूरी, नशा।

मग़्ज़, दिमाग। गूदी।

मज़हर, प्रकाशक।

मदहख़्वां, स्तुतिपाठक।

ममलुकत, राज्य।

मर्कज़, केन्द्र।

मर्ग, मृत्यु।

मशगूल, कार्यव्यस्त।

मह, चन्द्रमा।

महजूबाना, ढकने वाला।

मादर, माता।

माबूद, पूज्य।

मामनी, ममत्व।
मायल, इच्छुक, लुभाया।
मारफ़त, ज्ञान।
माशूक, प्रेमपात्र, प्रियतम।
मासिवा, सिवा।
माही, मछली।
मिक़राज़, कची।
मिल्लत, सम्प्रदाय।
मिहर, सूर्य्य। अनुकम्पा।
मुख्तलिफ़, भिन्न।
मुजरा, कटाक्ष।
मुतहय्यर, अचम्भेमें, चकित।
मुदाम, निरन्तर।
मुस्तआर, मँगनी।
मुहाल, अत्यन्त कठिन।
मेरा, मेव।
मैखाना, मद्यपानका स्थान।
मोजज़ा, चमत्कार।
मौज, लहर।
मौजज़न, तरंगमय।
मौहूम, काल्पनिक।

य

यकताई, एकत्व।

र

रक्स, नाच।
रज़ील, नीच।
रफीक, मित्र।
रमूज़, रहस्य।
रयाज़ी, गणित।
रह, राह।
रहमान, दयालु।
राज़िक, अन्नदाता।
रुख, चेहरा।
रूएज़ेबा, सुन्दर मुखड़ा।
रूह, प्राण, आत्मा।
रेज़िश, ज़ुकाम, बहना।
रोद, नदी, नदी, नालेका खाल।

ल

लाज़, नियम-समूह।
लाज़ुब, स्थिर।
लाहूत, आत्मलोक।
लैक, परन्तु।

व

वक़र, प्रतिष्ठा।
वजूद, रूप, अस्तित्व।
वतन, निवास, एक कविका उपनाम।
वसाल, संयोग।

वस्ल, संयोग।
वहदत, अद्वैत। एकत्व।
वहशत, पशुत्व।
वाइज़, उपदेशक।
वाक़ा, स्थित।
वाय, हाय।
वासिल, व्यापक।युक्त, सम्मिलित।
वाहिद, एक।
वेलकम, स्वागत।

श

शम्स, सूर्य्य।
शर, कुटिलता झगड़ा।
शहवत, काम।उत्तेजना।
शशदर, चकित।
शाग़िल, काममें लगानेवाला।
शादाब, जलसे भरपूर।
शादी, आनन्द।
शाना, कधा।
शाफ़क़, कधा।
शाफ़ी, सहायक।
शाह, राजा।
शिर्कत, मेल।
शीरीं, मीठा।
शुआ, किरण।
शोहरत, ख्याति।

स

सख़ुन, बात।
सग, कुत्ता।
सतर, सत्र परदा।
सदक़ा, निछावर।
सदा, ध्वनि।
सबा, प्रात कालकी वायु।
समा, गान।
सरफ़राज़ी, उच्चाशय। सम्मान।
सरूर, आनन्द।
सरोद, बाजा।
सहर, सवेरा।
सहम, डर।
साक़ी, पिलानेवाला।
सामआ, श्रवण।
सायल, मगन।
सालिक, यात्री।
सिकल, गुरुत्व।
सितम, ग़जब, जुल्म।
सित्र या सत्र शत्र, आच्छादन, ढकना, पर्दा।
सिपर, ढाल।
सिफ़त, गुण।
सिफ़रसा, शल्यवर।

सिम्त, दिशा।
सीम, चांदी।
सुम्मोबुक्म, गूँगा, बहरा।
सुराब, मृग तृष्णा।
सुवर, रूप।
सू, दिशा।
सेहत, स्वास्थ्य।

ह

हकीम, दार्शनिक।
हदूद, सीमाएं।
हब्बज़ा, साधु साधु, धन्य धन्य।
हम-बग़ल, एकही अकर्मे।
हरीस, लालची।
हल्ल, घुलना।
हाजत, आवश्यकता।
हादी, उपदेशक।
हाफ़िज़ा, ऐ हाफ़िज़ (उपनाम)। स्मृति।
हायल, बाधक।
हाल्ट, ठहरो।
हिज्र, वियोग।
हिर्स, लालच।
हुस्न, शोभा।
हुसूल, प्राप्ति।
हेच, तुच्छ।
हैयत, ज्योतिर्गणित।

विषयानुक्रमणिका

श्रीकाशी ज्ञानमंडल कार्य्यालयकी पुस्तकें

ऊँचीसे ऊँची बातको सहजमें समझाना इनका काम है।

प्राचीन भारत

सुन्दर कपड़ेकी जिल्द बँधी हुई। पृष्ठसंख्या लगभग ५०० ।,लेखक श्रीयुत,पं० हरिमंगल मिश्र एम० ए०। वैदिकसमयसे लेकर विदेशीय मुसलमानोंके आक्रमणसे पूर्वतकका इतिहास। कई हाफटोन चित्र तथा नक्शोंके सहित। मू० ३॥।~)

वैज्ञानिक अद्वैतवाद

लेखक, अध्यापक श्रीयुत रामदास गौड़, एम० ए०। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके अद्वैतवादपर वैज्ञानिक दृष्टिसे इस ग्रन्थमें विचार किया गया है। विज्ञानद्वारा यह दिखाया गया है कि ज्यों ज्यों नयी गवेषणाओंसे नये सिद्धान्त निकलते आ रहे हैं, त्यों त्यों अद्वैतसिद्धान्तकी पुष्टि होती जा रही है। पृष्ठ संख्या २३२। मूल्य २॥।=) सजिल्द। २॥=) अजिल्द।

जापानकी राजनीतिक प्रगति

सचित्र। लेखक, श्रीयुत पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे, सम्पादक दैनिक भारतमित्र। इसमें जापानका इतिहास, जापानके साथ हिन्दुस्थानकी तुलना, जापानके प्राचीन और अर्वाचीन समाजका वर्णन है। पृष्ठसंख्या २५० के लगभग है।

इटलीके विधायक महात्मा

सम्पादक, अध्यापक श्रीयुत रामदास गौड़, एम० ए०। इसमें ८ हाफटोन चित्र, १ इटलीका मान चित्र है। पृष्ठसंख्या २६०। इसके देखनेसे भारतकी बहुतसी राजनीतिक उलझनें सुलझ सकती हैं। सुन्दर कपड़ेकी जिल्दसे बँधी। मू० २)

युरोपके प्रसिद्ध शिक्षण-सुधारक

पृष्ठसंख्या २००। लेखक श्रीयुत चन्द्रशेखर वाजपेयी एम० एस-सी०, एल० टी०। 'कर्मवीरके' शब्दोंमें—"यूरोपके जिन विद्वानोंने वहाँकी शिक्षामें समय समयपर सुधार किये हैं उन सबकी जीवनी शिक्षापद्धतिपर आलोचना इस पुस्तकमें दी गयी है। शिक्षाकी उन्नति चाहनेवालों तथा देशमें नयी शिक्षा-व्यवस्थाका आरम्भ करनेवालोंके पढ़ने और विचारने योग्य पुस्तक है।" सजिल्द मूल्य १॥=)

स्वराज्यका सरकारी मस्विदा

'मान्टेगू-चेम्सफोर्ड रिपोर्टका हिन्दी अनुवाद, सम्पादक बा० श्री प्रकाश बी० ए०, एल० एल० बी० (केम्ब्रिज) बार-एट-ला। पृष्ठसंख्या ५८०, मूल्य १।।।)

बिहारीकी सतसई और सतसई संहार

समालोचनाकी अपूर्व पुस्तक। हिन्दू विश्वविद्यालयके पाठ्यग्रन्थोंमें स्वीकृत। लेखक, हिन्दीसंसारके सुप्रसिद्ध विद्वान पं० पद्मसिंह शर्मा। पृष्ठसंख्या ३७८, सजिल्द, मूल्य २)

अब्राहम लिंकन

यह उस महात्माका जीवन चरित्र है जिसने गुलामीकी प्रथाको अमरीकासे हटाया था। पृष्ठसंख्या १५१, मूल्य ॥)

सूचना—नियमानुसार १) भेज स्थायी ग्राहकोंमें नाम लिखा लेनेवाले महाशयोंको ये ऊपरके ग्रन्थ पौने मूल्यपर भेजे जायँगे।

'माला'में अन्य और जो महत्वके ग्रंथ छप रहे हैं

८—राष्ट्रीय आयव्यय।	११—अर्थशास्त्रका उपक्रम।
९—भौतिक विज्ञान	१२—विलुप्त पूर्वीय सभ्यता।
१०—पश्चिमीय यूरोप (सचित्र)	१३—रसायन शास्त्र।

सौर रोजनामचा सं० १९७८

यह जेबी रोजनामचा है। इसमें साधारण जरूरी बातोंके सिवा पंचांग, हिन्दीकी चार राष्ट्रीय संस्थाएं, सामायिक हिन्दी पत्रोंकी सूची महापुरुषोंकी जयन्तियाँ दैनिक लेखनीतिके उत्तम उत्तम दोहे आदि कई नयी बातें दी गयी हैं। मूल्य ॥) आना।

सौर पंचाग सं० १९७८

यह बड़े बड़े सुन्दर अंकोंमें छापा गया है। भीतपर लटकाने लायक है। इसके ऊपरी भाग और पीठपर बड़े पंचाग की सारी बातें घण्टों तथा मिनिटोंमें दी हैं। इसको प्रायः सभी लोग अच्छी तरह समझ सकते हैं, यह ज्योतिषियोंके भी मतलबका है। इसमें दैनिक लग्नसारिणी भी दी गयी है। मोटे सफेद कागजपर छपा है। मूल्य ।=)

प्रचारित पुस्तकें

तेलकी पुस्तक १) रोशनाई ॥) साबुन १) हिन्दी केमिस्ट्री १) सरल रसायन १) वार्निश व पेन्ट १) साबुनसाजी (उर्दूमें) १) रंगकी पुस्तक १) मानसमुक्तावली ।=) भूमण्डलके प्राणी ॥) भारी भ्रम १॥) लो० तिलकके व्याख्यान (अंगरेजी में) ।॥) लो० तिलकके व्याख्यान १।) डा० वसु और उनके आविष्कार ।=) प्रेसिडेन्ट विलसन ॥-) देशी करघा ।) सीनेकी कल ॥) जगत व्यापारिक पदार्थ कोष ५) मान्टे० चेम्स० स्कीम (अंगरेजी) पर मालवीयजी =) इकतीसवीं कांग्रेस ०)

कार्यालयका पता—

तारका पता ज्ञान, काशी। } ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी।